साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त

शवरी

प्रतिभा शतपथी

अनुवाद

पद्मश्री डॉ. श्रीनिवास उद्गाता

Digitized by PPRACHIN, SOA

शबरी

प्रतिभा शतपथी

Digitized by PPRACHIN, SOA

Digitized by PPRACHIN, SOA

(साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त)

शबरी

(ओड़िया कविताएं)

कवयित्री

प्रतिभा शतपथी

अनुवाद

पद्मश्री डॉ. श्रीनिवास उद्गाता

विद्यावाचस्पति

विश्वमुक्ति

भुवनेश्वर

Digitized by PPRACHIN, SOA

(साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त)

शबरी

(ओड़िया कविताएं)

कवयित्री : **प्रतिभा शतपथी**

अनुवाद : **पद्मश्री डॉ. श्रीनिवास उद्गाता**

नूतन संस्करण : 2015

© लेखक

कवर डिजाइन : सुशील पोहाण

प्रकाशक : **विश्वमुक्ति**, सी.एच.पी.- 30/31 (पी),
कानन विहार,फेज- 1,पी.ओ.पटिया (Patia), भुवनेश्वर -751 024, ओड़िशा

मुद्रण : विश्वमुक्ति पब्लिकेशन, भुवनेश्वर-23

मूल्य : **Rs. 175/-**

SABARI

Prativa Satapathy

Hindi Tr. : **Padmashree Dr.Srinibas Udgata**

New Edition : 2015

© Author

Cover Design : Susil Pohan

Publisher : **VISHWAMUKTI**

CHP-30/31(P), Kanan Vihar, Phase-I, P.O.: Patia,
Bhubaneswar-751024, Odisha

Printer : Vishwamukti Publication, Bhubaneswar

Price : **Rs.175/-**

Digitized by PPRACHIN, SOA

भूमिका

श्रीमती प्रतिभा शतपथी ओड़िया की लब्धप्रतिष्ठ कवयित्री हैं। उनके काव्य में संस्कृति का रंग जितना गहरा है उतना ही परिवेश के साथ तादात्म्य भी गहरा है। इधर भारत के कई कवियों और उपन्यासकारों ने पौराणिक संदर्भों को पुन: रचने के मनोरम प्रयत्न किए हैं। श्रीमती प्रतिभा की 'शबरी' रचना इन सब में कुछ अलग विशिष्ट है, उन्होंने 'शबरी' में राम के प्रति स्नेहाप्लुत वात्सल्य की आकांक्षा जगाई है।

मेरी मुट्ठी में है। केवल है स्नेह, वत्सलता
धूप की सुगंध
फिर आधी छिपी
आधी दिखनेवाली
भावुकता।

प्रतिभा की शबरी राम को सरजने का संकल्प करती है-

सरजूंगी मैं तुम्हें
जना दूंगी
मैं तुम्हें बना दूंगी
फिर से सुपुरुष।

पर स्नेह-वात्सल्य नारी के सहज सर्जनात्मक भाव का उच्छलन है। शबरी निसर्ग की शाश्वत सुंदरता और कोमलता की प्रतिमा है। वह राम के रूप में प्रतीक्षा कर रही है समूची पृथ्वी के

Digitized by PPRACHIN, SOA

भाग्योदय की। वह अकेले राम से या राम की यात्रा से नहीं जुड़ी है, वह प्रकृति की उस अशेष स्निग्धता से जुड़ी है जो पुरुष को पूर्णतर करना चाहती है, अपने को विसर्जित करके पुरुष को पूर्णतर करना चाहती है।

प्रतिभा की शबरी जूठे बेर खिलानेवाली वन तापसी की गाथा नहीं, यहीं सहज मानवता की जिजीविषा और सिसृक्षा की भी गाथा है। शबरी को इसलिए खंडकाव्य न मानकर प्रबंधकाव्य मानना चाहिए। महाकाव्य की तरह ही उसमें क्रमिक विकास है, आरोह-अवरोह के व्याज से अनेक संचारियों को रस की ओर तीव्रता से अभिमुख करती है।

मैंने ओड़िया भाषा का श्रुतिसुख अवश्य अनुभव किया है, पर ओड़िया कविता की भाषा का अर्थ नहीं गहा है। अतः मूल शबरी के बारे में जो कुछ कह रहा हूं, वह इसके काव्यांतर के आधार पर कह रहा हूं। काव्यांतर मूलवत् पढ़ने में लगता है। इसमें सतेज प्रेमावेग है, किसी प्रकार का छिछलापन नहीं है, न कहीं अनावश्यक नाटकीयता है। महाकाव्य की रचना में जितना संतुलित रस-परिपाक होना चाहिए, उतना ही है, अधिक या कम नहीं।

इस हृदयग्राही रचना के लिए प्रतिभा जी को बधाई देता हूं और उनसे इससे भी उत्कृष्टतर संभावनाओं की अपेक्षा रखता हूं। साथ ही अनुवादक या भावांतरकार श्री श्रीनिवास उद्गाता को भी बधाई देना चाहता हूं कि उन्होंने हिन्दी की जमीन समझी है और उत्तम भावांतर प्रस्तुत किया है।

फा. वदि 10/2051 **विद्यानिवास मिश्र**
दिल्ली

Digitized by PPRACHIN, SOA

पुराख्यानों का नया पाठ (एक अंश)

इतिहास व्यक्ति को अपने साथ बहुत अधिक छेड़छाड़ की अनुमति नहीं देता। वह लोक में जैसा और जिस रूप में स्थापित हो गया, उसमें किसी बड़े परिवर्तन की संभावना प्रायत: नहीं रहती, जब तक कि किन्हीं नवीन तथ्यों के प्रकाश में उसे पुनर्रुपायित न किया जाए; परंतु उस स्थिति में भी उसका लोक-स्थापित पूर्व-रूप न केवल अपरिवर्तनीय बना रहता है, बल्कि उसकी उपस्थिति नव्य रूप को लगातार चुनौती भी देती रहती है। पुराख्यानों और मिथकों का कोई बहुत अधिक प्रामाणिक साक्ष्य न होने के बावजूद वे अपनी लोक विश्वास अर्जन शक्ति की वजह से इतिहास का ही अंग बन जाते हैं। भारत जैसे देश में जहां जीवन व्यापार में धर्म सहस्राब्दियों तक निर्णायक एवं नियंत्रणकारी भूमिका में रहा है तथा जहां लिखित इतिहास की सुदीर्घ एवं व्यापक परंपरा नहीं रही है वहां पुराख्यान एवं मिथक शाश्वत रूप धारण कर ही लेते हैं। उसका नया पाठ तैयार करना एक चुनौती बन जाता है। साधारण जन इस चुनौती को स्वीकार नहीं करते। प्रवाह के विरुद्ध तैरने का साहस तो विरले ही कर पाते हैं। ऐसे ही दो नए पाठ किए हैं मलयालम के कवि ओ.एन.वी. कुरूप तथा ओड़िया की कवयित्री प्रतिभा शतपथी ने।

Digitized by PPRACHIN, SOA

प्रतिभा शतपथी का खंड काव्य 'शबरी' रामकथा की शबरी का नया पाठ है। भारतीय समाज शबरी को केवल एक तपस्विनी के रूप में जानता है जिसने राम को जूठे बेर खिलाकर मोक्ष प्राप्त किया था। परंतु प्रतिभा शतपथी की शबरी नारी समाज की आकांक्षाओं की, उसकी पीड़ाओं की अभिव्यक्ति है। तुलसीदास की शबरी में केवल भक्ति है, समर्पण है। वहां एक स्त्री के रूप में उसकी सहज मानवीय इच्छाओं एवं रागात्मकता के दर्शन नहीं होते। प्रतिभा जी की शबरी में भी भक्ति व समर्पण है परंतु साथ ही पुरुष को संपूर्ण बनाने की नारीयोचित आकांक्षा भी है:

सरजूंगी मैं तुम्हें/जनूंगी में। तुम्हें बनाऊंगी/फिर से सुपुरुष।

प्रतिभा शतपथी की शबरी में वात्सल्य है पीड़ा है और इस पीड़ा से मुक्ति की आकांक्षा भी, परंतु वह एकाकी मुक्ति नहीं चाहती। वह संपूर्ण सृष्टि की पीड़ा से मुक्ति की आकांक्षा भी। वह राम की प्रतीक्षा में है पर उसके राम अवतारी पुरुष होने के साथ-साथ मानव भी हैं और इसीलिए शबरी की नजर में वे मानवीय कष्टों व दुर्भाग्यों से भी बंधे हुए हैं। शबरी राम द्वारा इन मानवीय कष्टों व दुर्भाग्यों से अपनी मुक्ति की अकांक्षा भी रखती है। वह मात्र तापसी वनपुत्री नहीं है, बल्कि समाज के दलित शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करती है। वह कहती है:

मैं पकड़ लूंगी हाथ उनके/क्या मैंने कोई अभियोग किया/ मुझे क्यों नहीं है पता/धरती है असहाय कितनी।

डॉ. वेदप्रकाश भारद्वाज

(समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी-1999)

Digitized by PPRACHIN, SOA

अमोक्ष तप

एक बार, माटी हटाकर रेंगनेवाले केंचुए को समय वे मुझे याद आते हैं। केंचुए की तरह एक तुच्छ प्राणी के साथ में कभी भी अपने को शामिल कर नहीं पाती, जब कि मनुष्य में महानता के अनेकानेक प्रमाण मेरी आंखों को दिखते समय, उपलब्धि के ऊर्वर बिंदु पर मनुष्य के रत्नमय अस्तित्व से साक्षात करते समय, मैं तो सोच भी नहीं सकती कि मनुष्य अर्थहीन है, पर केंचुए की स्थिति और उनकी स्थिति कैसे निविड़ रूप से संबंधित है। हां, वे मुझे याद आते हैं। लगभग चौदह साल पहले मैंने उनके लिए दो कविताएं लिखी थीं। अपने अंदर छिपी हुई उनकी अस्तिता खूब निःसंग मुहूर्त में बाहर निकल आती है और मेरे अंतःकरण को छू लेती है। मैं समझती हूं, वे और मैं भिन्न नहीं। समय के दूरवर्ती दो बिंदुओं में खड़ी वही एक ही अस्तिता उसकी प्रतीक्षा, उसकी उपलब्धि बिल्कुल समान, एक जैसी।

स्वप्न या यथार्थ कह नहीं सकती। मैं उनकी सत्ता में प्रवेश कर गयी या वे मेरी सत्ता-संलग्न हो कर बढ़ रहे थे और मेरे अंदर प्रसरित होते जा रहे थे, सही समझ नहीं सकती। यदि यह स्वप्न है तो अवश्य ही सत्य की उपलब्धि के लिए यह एक सुनिरूपित मार्ग है। पर रामायण के वर्णमय चरित्रों की चित्रशाला में मैंने उन्हें क्यों

Digitized by PPRACHIN, SOA

चुना! शायद इसलिए कि ऐश्वर्य और आभिजात्य में, आकस्मिकता और अहंकार से सुसज्जित पुराण-पात्रां के बीच वे खूब निराले, आत्मस्थ हो खड़े हुए से लगे थे। खूब भिन्न, स्वच्छ लगे थे, साधारण एक नारी के शरीर में वह अमोघ सत्ता उपस्थित है वह मैं देख पायी थी।

पता नहीं किस अनंत काल से, काल-सचेतनता-रहित एक समय से यह सत्ता शरीरवश हुई है। किस सफलता के शिखर को पहुंचने के लिए उसका यह जन्मांतर का पथश्रम? उस सफलता का स्वरूप और स्वाद कैसा है, यह प्रश्न मैंने अपने आप से पूछा है। क्या मोक्ष ही मानवात्मा की एकमात्र सफलता है? तो मोक्ष का अर्थ क्या जन्म के बंधन से मुक्ति है? पृथ्वी का, जीवन का अस्वीकार है? किस महत् अभीप्सा का अनुसरण करते हुए, उसकी संभावनाओं के आविष्कार मात्र ही इस जीवन का परित्याग कर जाना? इसी के माध्यम से क्या दुःख से उद्धार या परित्राण मिलता है? यदि यह मोक्ष है-तो यह मानवात्मा की सर्वश्रेष्ठ अभीप्सा के नाम से क्यों कर चिन्हित होगी? शरीर और मन को अतिक्रम करके अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के माध्यम से व्यक्ति क्यों मोक्ष लाभ कर नहीं सकता? शरीर और मन के सुख-दुख प्रभाव-रहित हो जाने के बाद मनुष्य इस धरती पर क्यों नहीं रहेगा? दूसरों के आंसू पोंछ देना मानवात्मा की सर्वश्रेष्ठ अभिलाषा क्यों नहीं होगा?

शबरी की अभीप्सा के माध्यम से मैं क्या अभिव्यक्त करना चाहती हूं, वह बता पाना मेरे लिए संभव नहीं है। मैं जानती हूं कि वक्तव्य के कवितान्वित हो जाने के बाद मैं और कविता को वक्तव्य के मांझ से अलग कर नहीं दिखा पाऊंगी। रोटी से आटे को

Digitized by PPRACHIN, SOA

अलग कर दिखा नहीं पाऊंगी, कतई। मेरे वक्तव्य का परिचय मेरी कविता ही दे सकती है। इसलिए, यहां मेरा कुछ भी कहना अनावश्यक है। फिर भी शबरी की नूतन सचेतनता को दर्शाने की आकुलता से यहां मैं कुछ कहती जा रही हूं।

राम की प्रतीक्षा करती शबरी इस धरती पर सहस्त्र बार जन्मी है। प्रत्येक जन्म के श्रीराम के दर्शन के लिए उन्होंने प्रतीक्षा की है क्योंकि उनके गुरुदेव मातंग मुनि ने उनसे कहा था, उनकी तपस्या, जीवन की साधना व्यर्थ नहीं होगी। परम पुरुष एक एक दिन उनके पास अपने आप अवश्य आयेंगे। उसी अनिर्वापित आशा से शबरी ने इस पृथ्वी को दस सहस्त्र बार भोगा। एक जीवन की ज्वाला की, आंशिक रूप से क्यों न हो, कल्पना की जा सकती है। कल्पना और यथार्थ की आनुपातिक दृष्टि से देखने से शबरी की जीवन-साधना प्राय: स्पष्टतर हो जाती है।

यह संभव है कि सिद्धि-लाभ के पहले शबरी की असाधारणता को नहीं पहचान पाने के कारण अनेक ने उनका परिहास किया हो। क्योंकि पृथ्वी कदापि साधरणता से अधिकता को मूल्य देने को समर्थ नहीं हो पाती और ईश्वर भी अपने निर्धारित नियमों के बहिर्भूत किसी विप्लवी को सहन नहीं कर पाते। इन सभी कठोरताओं के बावजूद शबरी उसी एक ही भूमि पर खड़ी रहती हैं। काल और परिवेश के शिकंजे से पूर्ण रूप से मुक्त कर लेती हैं अपने को। उसके बाद?

क्या शबरी अमर है? क्या समय के प्रभाव से मुक्त समय भी? समय की अंत न होनेवाली प्रवहमानता में प्रतीक्षा का काल घनीभूत होकर एक स्थिर द्वीप बन जाता है-प्रतीक्षा ही एक स्थिर

Digitized by PPRACHIN, SOA

निस्तब्ध स्थिति है। प्रतीक्षा की विह्वलता में दस सहस्र वर्ष भी एक ही वर्ष में केंद्रीभूत हो सकते हैं। दस सहस्र वर्षों की अभिज्ञता भी एक ही वर्ष में संभवित हो सकती है। इस अभिज्ञता, मानसिकता की दृष्टि से शबरी सत्ता की मृत्यु हो नहीं सकती।

रामचंद्र शबरी के जीवन का वृहत्तर अर्थन्यास हैं। पुनश्च-परिपूर्णता प्राप्ति के लिए उनकी सत्ता का एक महिमामय स्वप्न हैं। वह स्वप्न सत्य के साथ संपर्कित होकर है, और सत्य की उपलब्धि के लिए एक निश्चित मार्ग भी। हो सकता है रामचंद्र शबरी के पास पहुंचे पर रोम-रोम में जीवन को तीव्र रूप से भोग चुकी शबरी क्या उस अवतार से बहुत कुछ की आशा कर बैठती? अपनी अपूर्णता को वह अवतार परिपूर्ण कर सकते हैं कह कर अपने आप को बहला सकती? अवतार भी तो मनुष्य ही है-उनका अपना दु:ख है, असामर्थ्य और दुर्भाग्य है-मनुष्य के रूप में निष्ठुरता और अवतार के रूप में जन्म लेने के कारण देवत्व का अहंकार भी। इस तरह के एक क्लांत, विधुर, दुर्भाग्यग्रस्त अवतार से शबरी क्या पाने की इच्छा रखतीं?

'अपना और कोई जन्मांतर न हो' शबरी ने वैसा कुछ सोचा नहीं है। दस सहस्र जन्मों की यंत्रणाजन्य अभिज्ञता ने उन्हें काफी दृढ़ और शक्तिशालिनी कर दिया है। मनुष्य के साथ संपृक्ति, मनुष्य के दुर्भाग्य के साथ एकात्मता से वे और मुक्त नहीं हो पायीं। जन्मवंधमोचन के लिए उनकी तपस्या नहीं है, यह वे समझ गयी हैं। फिर भी रामचंद्र उपस्थित हैं, वरदान के लिए उद्यत-शबरी किसकी प्रार्थना करती, क्या होती उनकी सर्वश्रेष्ठ याचना?

उस समय मेरे अंदर की कवि सत्ता और कवि कलाकार

Digitized by PPRACHIN, SOA

जटिल जिज्ञासा के सामने किंकर्तव्य हो पड़ा है, जब कि उस समय शबरी की संदृष्टि के सम्मुख दुर्भाग्य पीड़ित इत:स्तत: मनुष्यों की शोभायात्रा है। अवहेलना, अस्नेह, हिंसा, प्रतारणा के रूप में रक्ताक्त और छटपटाता मनुष्य का आर्तनाद-यह मानों एक कठोर बंधन बन कर शबरी की आत्म सत्ता को फांस कर है और उनके भावमय हृदय के स्पंदन के साथ जड़ित हो कर है। जिस भावनिविड़ता में शबरी आच्छन्न हो कर हैं उस भावराज्य में भक्ति और प्रेम की सीमा रेखा अस्पष्ट है-कहां प्रेम की समाप्ति, कहां से भक्ति का प्रारंभ -मानवात्मा की आसक्ति, आराधना और उत्सर्ग पर्व में यह दोनों भाव चेतना एक और अभिन्न हो गयी हैं। कभी भी न मिले प्रेमी की अनुपस्थिति में जो भाव-संपर्क बढ़ता जाता है, वह भक्ति के अतिरेक और क्या भी हो सकता है? सब कुछ को एक विश्वास की वेदी पर नि:सर्त रूप से अर्घ्य के रूप में निवेदित कर देने की भक्ति प्रेम से कितनी दूरवर्ती है? किस तरह भिन्न भी है?

इस भांति की भावमयता में ओत-प्रोत शबरी इस अभीप्सित मुहूर्त में क्या मांगती? कहतीं क्या-'प्रभु, तुम देवत्व के अहंकार से, निष्ठुरता से मुक्त हो जाओ, यदि वह तुम्हारे लिए संभव नहीं है, तो मुझे अनुमति प्रदान करो कि मेरा मातृत्व उसी भांति एक परम पुरुष, महावीर को जन्म दे' या कहतीं-'मुझे तुम में विलीन कर लो-इस माया संसार से मुझे उठा लो प्रभु और स्वर्गालोक में अधिष्ठित कराओ।'

नहीं, वे उस अंतिम वाक्य का उच्चारण नहीं करतीं। धरती और जीवन आत्मीयता के अधिकार से उनसे बहुत कुछ की मांग करते हैं या उनका बहुत कुछ दावा है यह शबरी को हृदबोध हो

Digitized by PPRACHIN, SOA

जाता है। उस मांग को ग्रहण करते समय वे समझ गयी होतीं कि करोड़ों जनप्रणियों के भाग्य से उनके भाग्य को अलग किया नहीं जा सकता। मोक्ष भी एकमात्र सुख नहीं है। दु:ख से सही परित्राण का एकमात्र उपाय नहीं है। मोक्ष से प्रशस्ततर और अधिक यंत्रणादायक एक सुख की अधिकारिणी बनने के लिए वे अपने आप को तैयार कर चुकी होतीं। सामूहिक सुख ही स्वयं संपूर्ण सुख है यह उनको हृद्‌बोध हो गया होता। यदि इस पृथ्वी में सामूहिक सुख की प्रतिष्ठा के लिए उनकी समर्थता कम होती, अंततः दूसरों के दु:ख को लाघव करने की शक्ति तो है उनमें और उस सामर्थ्य के बारे में उनकी अपनी सचेतनता पर्याप्त है।

वे कहतीं-'प्रभु, मनुष्य को दु:ख दुर्भाग्य से तुम यदि मुक्त नहीं कर पाते, मुझे अंततः अनुमति दो कि मैं यहीं रह कर उसकी अंशदार बन सकूं।' उनकी प्रार्थना के यथार्थ बनने के बाद परिपूर्णता मिलती या नहीं वह प्रश्न यहां अप्रासंगिक है। परिपूर्णता एक फल नहीं है कि हाथों पर आ गिरे। शबरी भी यह जो दायित्व ले लेती हैं, उसमें परिपूर्णता का आना संभव नहीं है। फिर भी सुख-दु:ख की सीमा के बाहर पहुंच जाने के बाद शबरी यथार्थ में इससे अलग और किसकी आशा रखतीं ? कौन-सी सिद्धि उन्हें अधिक से अधिक वरणीय लगती-आदि अंतहीन प्रतीक्षा और किस महत्तर अर्थों से अन्वित हो पाएगी ?

डॉ. प्रतिभा शतपथी

1, ग्रीन पार्क
पटिआ स्टेशन रोड,
पो- किट, भुवनेश्वर-24

Digitized by PPRACHIN, SOA

व्यतीत काल

एक

तुम संग घनिष्ठता नयी है नहीं
कब से, कई जन्मों के पहले से
मैं एक और अभिन्न होकर थी
साकेत में, चर्वान्न में
तुम्हारे संभवित होने के पहले-
धरती गोमाता बनी
अधोमुख लोतक प्लावित
धाता ने की जब आकुल प्रार्थना
जब तुमने क्षीराब्धि शयन से
देखा
तब हुई सर्जना मेरी
साकार करुणा के रुप में
तुम्हारे अपांग से
और मैं बरस गयी पृथ्वी पर
जन प्राणियों के क्षुधा-जर्जरित
लांछन-पीड़ित होठों पर
दूध की धार की भांति

Digitized by PPRACHIN, SOA

छलकने लगी।

तुमने फिर से उठा ली सत्ता को मेरी
भर लिया बांहों में मुझे...
लगा कर अंतरिक्ष समान हृदय में
और मैं लगा कर कान
सुन रही थी तुम्हारी छाती की धड़कन
उसकी अनुगूंज थी मेरे हृदय में
और चराचर ब्रह्मांड में
वह कैसा आलिंगन
या वह है निस्तब्ध मृत्यु
जिसने सत्ता को मेरी कर दिया कवलित।
मैं जानती थी
पल के पश्चात्
चले जाओगे तुम
छोड़ कर ठंडे बतास में
अकेली थरथर
कांपती हुई अस्मिता को मेरी
मैं फिर से भाग्य मान कर रेंगती रहूंगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

अप्रेम अज्ञता जितनी फिर से झेलूंगी
फिर तुम
बिलकुल न पहचानते की भांति
निहारोगे मुझे
फिर से तुम्हारी घनिष्ठता के लिए
जल बिन मछली-सी छटपटाती रहूंगी मैं।

दस सहस्र संवत्सर तक
छटपटाती रहूंगी मैं
संख्याहीन वर्ष-मास दिन-रात
मुहूर्त और पल
विभाजित होकर
खिसकते जाते होंगे
अंजुरी से मेरी
घूलकण की भांति
मेरी देह और चेतना में
खतम न होनेवाले समय को
भोगती रहूंगी
बिछोह के

Digitized by PPRACHIN, SOA

अलग होने के उस
दीर्घतर कठिन समय
उस समय की रेखा पर कहां
तुम खड़े रह कर याद करते
बुझते आते विश्वास को
करते रहोगे तेज मार कर फूंक।

पता होगा मुझे
मनुष्य के मन में
है इतनी लंपटता
ईर्षा, क्रोध
जो आसानी से
रोक ले ईश्वर की राह
अहंकार, विकृति, लालसा
दुलंध्य दीवारें होगी
जिन्हें लांघ कर
तुम्हारे आने तक
मुझ जैसी पामरी कोई
सच क्या
इस धरती पर होगी ?

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

दो

पृथ्वी से कहा
अब मैं चली जा रही हूं
काफी दूर तुझ से
अब तुम से कुछ भी
पाने और खोने की
संभावना बिलकुल नहीं है
तुम्हारे और मेरे बीच
कोई निर्भरशीलता बनी रहे
अब मैं उसकी आशा भी करती नहीं हूं।

तुम्हारी सँकरी गली के रास्ते से
कभी वे आयेंगे
इस विश्वास को खोया है जब से
कठोर निराशा से मैं
भीगती हुई
बाहर आ गयी हूं
शून्य से शून्य को

Digitized by PPRACHIN, SOA

खींची हुई एक सरल रेखा की भांति
फैल गयी हूं जो
मेरा आदि नहीं अंत नहीं
अपना कहलाने को
कोई नहीं।

यहां भी
गंभीरतम निराशा है-घिर आते बादल
समूची रात टूट जाती
अस्थिर झड़ से,
वर्षा होती है, घनघोर बारिश
करुण आंख की भांति
बूंद-बूंद टपकती है वर्षा
सुबह-सुबह
अश्रुस्नात दिग्वलय के नीचे
ईषत् कोहरा हलदी रंग का
घिर आता है
करोड़ों वर्षों में एक बार
कहां से मुहूर्त एक

Digitized by PPRACHIN, SOA

लुके छिपे आता है....
स्वर्णाभ आलोक की धारा एक
मेरी देह पर, हृदय पर
मेरे चहुंओर की
उर्वर माटी पर
नाम उनका लिखती जाती है।

पूछते हो कौन है वह,
सुनो
वह है न मेरे भीतर की
आलोक वर्ष की
निविड़ दूरता
फिर होती है मुखरित मेरी एकान्तता!
सभी संपर्क के सूत्र
टूट जाने के बाद भी
अस्तित्व को मेरे
परत-परत बांध कर
रखनेवाला
स्वेच्छाकृत निष्ठुर बंधन!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

तीन

जन्म कितने बीत गये
एक शब्द कहते न बना!

कितने कोलाहल
धायं-धायं
अर्थहीन कितने उच्चारण
हुए नहीं मेरे चहुंओर,
मेरे कंठ के भीतर!
जो मैं कहती उन्हें
न आयी जिह्वा पर।

उस एक पद के लिए न
दस हजार वर्ष बीत गये
जन्मों के बाद जन्म बीते
कई बार
आयी मैं कितने रूपों में

Digitized by PPRACHIN, SOA

आकाश के आगे फैला कर हाथ
भिखारिन की भांति
मांगा दो एक शब्द मुझे
दो...मुझे दो
होंठ के खुलने के पहले
हृदय में वह खिल उठे
बिखेर दे पूनम की रात
होंठ से फूटते ही
सारी मेरी आत्मा की मनुहार
खोल कर कर दे प्रसारित
उनके हृदय में
चिरकाल मूक यातना को
स्वर दे
दे उत्तरण।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

चार

रात की तह तक
मैं भेद कर गयी
नाड़ी परख ली
शोणित का उत्फुल नर्तन
रात का
और मेरी देह का
वे कुछ बतियाये
जिसे मैंने
अबुझे अधबुझे मान ली।

मेरी जकड़न से छूट कर
रात उसकी काली पाट साड़ी से
अपने को सिर से पैर तक ढंके
तेज-तेज चलने लगी
पीछे से जोर-जोर पुकार लगायी
कहां जा रही हो
एक बार देखो मुझे,

Digitized by PPRACHIN, SOA

अंधेरा, अज्ञता और
असामर्थ्य की भांति
प्रतीक के भार ढोये
सारा आकाश पृथ्वी को
छिपाए आंचल में
इतनी तेज फूली सांस
भागी कहां जा रही हो?
सच क्या किसी की पुकार को
अनसुनी कर देती हो
किसी से भी करते नहीं प्यार?

एक दिन भी तो
थके नहीं है तुम्हारे चंचल चरण
तुम्हारी निर्ममता का
है नहीं व्यतिक्रम-
कोई क्लांति
तुम अपने को
अवसन्नता के एक भग्नांश हो

Digitized by PPRACHIN, SOA

मानती नहीं हो?

क्या तुम करती हो विश्वास
कि किसी सुबह
फाग से धोकर मुंह
आयेंगे वे
खड़े हो जायेंगे
म्लान इस क्षितिज के नीचे?
तुम्हें आलिंगन कर कहेंगे, निशीथ
अब तेरा अविश्रान्त पथश्रम
यहीं समाप्त हो
विकल प्रतीक सारे
हो जायें धूलिसात।
तुम्हारे कोई जवाब देने के पहले
मैं एक रात में
बदल गयी होऊंगी
तब तक।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

पांच

यह रात कभी और आयेगी क्या ?
आने की संभावना न हो जिस की
उस मेहमान के लिए
स्वागत तोरण की भांति
वृक्ष पंक्ति
कोमल पत्तों में
चंद्रालोक की दीवाली
फूल बिछी भूमि
शाखों से झरते फूल
अरण्य शिखर पर
टिमटिमाते लाखों तारे
लगती हैं कितनी करुण
कदाचित् कहीं
निस्तब्ध पेड़ से पत्ता झरता है तो
मैं चौंक जाती हूं।

यह रात कभी और आयेगी क्या ?

Digitized by PPRACHIN, SOA

यह रात व्यतीत काल का
करोड़ों रातों में से एक
जब मैं अत्यंत अद्भुत
भूतनी की भांति
आधी छाया आधे उजाले में
छिप-छिप कर
झुरमुटों को लांघ
भटकती रहती हूं
राह भूल कर
कांटों में उलझ कर
जंगल भर घूमती रहती हूं सारी रात।
चांद भी बढ़ता रहता है
दो कदम आकाश में
पृथ्वी कक्ष पर अपने
झुक जाती थी थोड़ा-सा
बारंबार लंबी सांस लेकर
रात होती रहती है उतावली।
हृदय मेरा हो जाता था
टुकड़े-टुकड़े टूट कर,
चूम कर हर टुकड़े को
बिखरती जाती थी चांदनी।

Digitized by PPRACHIN, SOA

इस तरह रात एक सदी बन जाती है।
एक ही रात में निकल कर अपनी देह से
ठोकर खायी है कई बार
मेरी अधीरता
अपरिपक्वता सारी
उस अवधि में
लांघ चुकी होती।
यहां तक कि विश्वास की दृढ़ भूमि पर
पैर धरते समय
सौ वर्षों की अवधि
समय की श्रांति भोगने को
होश ही न होता मेरा बिलकुल।

इस तरह की एक रात के पश्चात् वह सुबह।
सुबह मैं निर्जन झरने के जल में
केश मेरे धोने के समय
सिवार लता-सी जल भर में
केश मेरे फैल गये
लहराने लगे, तैरता गये
मुझे लगा मानो वे सिवार लताएं

Digitized by PPRACHIN, SOA

मुझ से जन्मी हैं
और मैं स्वयं ही पत्थर हूं।
नहीं है मेरी देह
सुख-दु:ख का अनुभव नहीं
अपसृयमाण समय के लिए
लेश मात्र उद्वेग भी
नहीं है मुझ में।
यद्यपि झरने में जल
जगह-जगह चमक रहा था
पर उसके भीतर से मेरी आशाओं की
उज्ज्वलता
मिट भी चुकी थी।

मुझे लगा
कि अब से मैं केवल पत्थर हूं
पड़ी हुई हूं इस झरने के तट पर
तुम अगर आओगे कभी इस तट पर
तुम्हारे रक्त-चंदन-चरण
हो सकता है अनजाने में
पड़ें उस पत्थर के ऊपर!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

छह

कई बार होंठ से मेरे
कितने निरर्थक गीत
झर गये
अवांतर अनेक आलाप
मैंने किया उच्चारित
कई बार इस देह को
पुष्प-राग एवं
सुगंधित पल्लव का
दिया आवरण
उजागर कई रातें
उष्मता में कराहने लगी,
नव आवेग के
इस धरती की
धूलि को रंगा कर
बन गयी कई झूठे स्वप्नों की नायिका
आग की परिधि के
भीतर कूदने को

Digitized by PPRACHIN, SOA

तैयार होने लगी
हवा का जाल बिछा कर
पकड़ने बैठ गयी
निशार्ध में कभी
चांद का इंद्रजाल
सुन कर नदी का संगीत
राह भूल गयी...
नदी के उस पार
बांसुरी का स्वर
थिरकने की भांति
जैसे बुलाया हो मुझे
भागी होकर उतावली।
भरी नदी तैर गयी
डूबती.....उड़ती
चांदनी से सर्जित बांसुरी वादक ने
नि:स्वन से कर दिया सृजित
रूप एक मेरी अभीप्सा का?

तुम जरुर
तुम्हारे अतिरेक
और कोई हो नहीं
जो रचित कर पाता
मेरे लिए मेरे इस रूप को

Digitized by PPRACHIN, SOA

व्याप्त धरती से
आकाश तक
वंशी स्वन समान उत्ताल।

भागती-सी चली
मेरे वक्ष की
कदंब माला ने
बांध लिया उस
वंशी वादक के
चारु चरण युगल को
मेरी जन्म-जन्म से संचित
प्रार्थना के निर्यास से
मैंने चाहा
कि मैं बनाऊंगी प्रेमासन
बिठाऊंगी उन्हें
उनके विशाल वक्ष पर
माथा टिका कर
भूल जाऊंगी मैं मेरे
सारे दुर्योग को
अविश्रांत भंवर खेल से
खींच कर
दिखाऊंगी यह अपूर्व अभिषेक
कहूंगी-देखो, देखो

Digitized by PPRACHIN, SOA

मैं हूं इस ससागराधरा की ईश्वरी
मेरे एक-एक शब्द
चमकते
एक-एक नक्षत्र की भांति।

उल्लास में डूबते समय
मेरा अनुभव जागा
और समझ गयी कि
वह तुम नहीं हो
वह तुम्हारा स्पर्श नहीं
निविड़ता नहीं
और भी भ्रांतियां थी
भूमि पर मीन की तरह
फकफकाते
पवन को निगलने की
प्यास थी
सहस्र बार राह भटकने का
इतिहास
लिखा था मेरे ललाट पर!
नौ सहस्र संवत्सर तक
तब क्या अस्मिता मेरी
विभ्रांति में
डूबी और मरी थी!

Digitized by PPRACHIN, SOA

कांप रही थी पूरी
सुन सकती थी
मेरे भीतर
निःसंग हाहाकार मैं
किसी का टुकड़े बन
खंड-खंड होना
फिर भी सरक रही थी
कीचड़ में लथपथ होकर
राह खोजती थी।

चौदिशाएं कांपती थी
पेड़ पत्ते हवा भी
अलापते थे मेरी
आत्मा की स्तुति
नहीं नहीं,
उठा लो मुझे
मिथ्या से, क्षणिकता से
मेरे हृदय को कर दो स्वाधीन
कितना शोणित बहा
कैसे गभीर काले पड़ जायें मेरे होंठ तो
समझोगे तुम कि
मूर्खता और विभ्रांति में
मैं हूं कैसी मर्माहत।
■

Digitized by PPRACHIN, SOA

सात

आयी मैं कई बार
इस झाड़ जंगल में
हाथ-पैर बंधे पशु की तरह
रेंगती रही
विषैली चोट सही
आंसू लार का चिथड़ बना
लंबी सांस की तरह
हवा में खो गयी,
अब की बार
तुम्हारी राह रोके रहने को
नयी देह धारे आयी हूं मैं।

मुंचरित हुई मैं
आद्य वसन्त के हिल्लोल में
मधुक्षरा रजनी में
एक राजकुमार से
मिली सपने में

Digitized by PPRACHIN, SOA

मेरी बाहों के बंधन में
उस राजकुमार के शरीर से
गिर पड़े
मणिमय अंग आवरण
सुगंध से हिलने लगी माटी
हिली मेरी शय्या
शिराओं में तड़ित
हुआ प्रवाहित।

देख न सकी मैं
उठा कर आंख
फिर भी
किया अनुभव
विभूति सुशोभित
स्वर्ण उपवीत विमण्डित
वक्षदेश
स्मयमान रंगाधर,
वह अपूर्व पुरुष है

Digitized by PPRACHIN, SOA

उनके तन के नीलपद्म
सुगंध-विवश-करंबित लक्षेक भ्रमर
उनसे थोड़ी ही दूरी पर
तोड़ने को सभी राक्षसी खेला
समुद्यत हैं
तीर और धनुष।

मैंने सोचा
अब हुआ संभावित?
स्वप्न बने सत्य
गुरु की आश्वासन-वाणी
मैंने सुनी सद्य: हुई उच्चारित
सुना मैंने
निद्रा को, रात्रि को
मेरी देह को, दु:ख को
सब मैंने फेंक दिये दूर
आकाश के बीच।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

आठ

समय ने
पहना था निहायत साधारण भेष।

आवेग ने घेरा मुझे
परत-परत
आकाश ने भी लिख दिया
परिचय अपना
किशलय की भांति मेरी
हथेली पर,
सैकड़ों इंद्रधनुष
मेरे मन के आकाश में
उदित हुए, विच्छुरित हुए
एक दिन निशार्ध में
हृदय मेरा हुआ सिहरित
शहनाई के एक विलंबित स्वर से।

उन्होंने करायी पहचान-
यह मेरा संसार है

Digitized by PPRACHIN, SOA

आंख उठा कर देखा
शरीर और मन को करके एकाग्र
सोचा उसे पकड़ लूंगी....
लगा मुझे
मेरा यह संबंध
तुच्छ जीवन का
विकसित होगा अर्थमय हो कर
शोणित से लिखी वार्ता
व्याकुलता से धो दिये पैर
भोर होते न होते
शरीर मेरा
कंदुक के समान
हुआ व्यवहृत
आत्मा फिर
अपांक्तेय, खो गयी
हृदय की शिरा प्रशिरा से
सरलता, शोषण
करने लगे सभी
और मेरे सभी अंग
दिखने लगे पांडुर ?

तब तक पैर तले मेरे
लोकाचार ने
बिछा डाला था

Digitized by PPRACHIN, SOA

संकरा पथ
खचिंत कर चुका था
समय ने
सारे दुर्योग,
मेरे चारों ओर
स्पृहणीय कुछ भी नहीं है
करता जा रहा है यही उच्चारित
कानों में मेरे।

मैं जाग उठी
टटोला हृदय को
कितने दु:ख, निर्यातन
उबल रहे थे
मैं किस से कहूं,
तलाशने लगी...
मेरा संसार, बंधु, परिजन
समस्वर में
जोर दे कर पूछने लगे
तू फिर क्या चाहती है?
गाती है गीत किस के लिए?
बनाती है अलपना।
क्यों तू
कंदमूल खोदने
फल तोड़ने और संसार सेवा को

Digitized by PPRACHIN, SOA

मानती है सर्वस्व
कुलटा तू
किसे ढूंढ़ती है ?

उस दिन से क्यों कर
बजता है मंगल वाद्य तो
मेरे होंठ अपने आप
वक्र हो जाते हैं
जीभ तिक्त लगने लगती है
हृदय के अंदर
बित्ते भर जगह
बन जाती जलती मरुभूमि
वहां मैं
स्वयं पवन-ताड़ित धूलकण हूं
मरु के ऊपर से जब उड़ती जाती हूं
ढूंढती रहती हूं मैं
अपना ठिकाना।
अगम्य अरण्य के भीतर
किसी आदिम वृक्ष के
कोटर में से
उचकनेवाले अग्निकण-सी
मेरे अंदर
दहक रही है विफलता
और उस विफलता की आग

Digitized by PPRACHIN, SOA

अरण्य भर को खा जाने के साथ
खा जाती है मेरे इस अस्तित्व को।

धूल-कण, अग्नि-कण के अतिरेक
एक और परिचय
छू जाता है मुझे
कैसे भी आकस्मिक
क्यों न हो, फिर भी
उसके बीच
छिपा रहता है अर्थ मेरा
जिंदा रहने का...
वह अर्थ
व्याकुलता से सराबोर एक स्वर में
अपने को खोलने की चाह से
अंधेरी रात में
तंद्राच्छन्न विहंग कंठ का
मधुर उच्चाट बन
फूल की महक होकर
मधु बन कर
झरता है।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

नौ

उस दिन
कैसी अद्‌भुत घटना घटी !
मध्याह्न में छिप गया सूर्य
बादल चौड़े मेढ़ के भीतर से
उसका चिह्न केवल दिखाई पड़ता था
स्पष्ट-
धीरे-धीरे अंधकार
पहाड़, वृक्ष लताओं पर
लदता आ रहा था
पत्थर से, गुहा में से निकल
आश्चर्य कंपन एक प्रसारित होने लगा
और चहुंओर नया-नया-सा
लगने लगा।

दूर से किसी की बारम्बार पुकार आयी
कुटिया के अंदर से
माता-पिता के पास से

Digitized by PPRACHIN, SOA

मैं दौड़ भागी धूप में
सूखी छाती की तरह
पथरीले झरने को लांघ
आ गयी मैं दूसरे तट पर
नीड़ पर, पत्तों पर
चिपक कर झुलसे
काले बादल को देखते-न-देखते
सुनाई पड़ी किसी के
सुकोमल पैरों की आहट...
सूखे पत्तों पर
किस की ये...
चौंकी मैं।

अनेक उत्फुल्लित नयन?
अनगिनत रंगों की होरी, इंद्रधनुष?
स्पंदित मयूर जो
पुष्पित तरु की भांति आंदोलित
विशेष भंगिमा में ऊर्ध्वमुख
नृत्य में उन्मत्त।

Digitized by PPRACHIN, SOA

सशरीर कांपने लगी मैं
हवा की सायं-सायं
बांस बन की घोषणा
चौदिशा को संकुचित कर
आने वाला मेघ अंधकार
सब कुछ मैं भूल गई
तन की हर तंत्री में सत्कार उच्चाटन मेरा
अस्थि के रंध्र से फूटे अनाहत स्वप्न
पग मेरे हुए अस्थिर चंचल
मुझ में नृत्य संगीत की
यह अभिनवता, यह सुसंगति
कहां थी छिप कर!
अंधकार, घन अरण्य को मेरा डर नहीं
शंका भी नहीं है मेरी कुटिया को
अस्त-व्यस्त करने वाले
झड़ और मेघ की गर्जना के लिए
कब से नहीं है मुझ में भय और शंका?

पहाड़ पत्थर के साथ संबंधन्वित मेरी
सुकठिन देह

Digitized by PPRACHIN, SOA

धरती से कंदमूल खोदनेवाले
घट भर जल लानेवाले
मेरे कर चरणों में
कौन-सी मुद्रा और छंद हुए उजागर,
क्षुधा, व्याधि निपीड़ित
वंचित, मेरे हृदय में
अनजाना पुलक कैसा हुआ संचरित!

मेघ को क्यों प्यार करने लगी
क्यों इस घन अरण्य में
उस आकाशचारी
घनीभूत वाष्प को मैंने
आलिंगन करने की उत्कंठा जगा ली?

मेरे नीरस परिधान उड़ रहे थे
शिथिल अंगावरण
दोनों बांहों में जकड़े थी
पक्षी की सुनील ग्रीवा,
घन अरण्य की काली झील
आंख उसकी

Digitized by PPRACHIN, SOA

धूमाभ लोहित।

सुविन्यस्त पूंछ को उसके छूते ही
किशोरी होंठ से मेरे
फूट पड़ा गुंजन, अभूतपूर्व
सर्वांग मेरे हुए आंदोलित
पता नहीं किस भांति मैं
मोर के सहजात नृत्य के ताल में
हुई निमज्जित
किस युग, किस जन्म की
अणाकार ध्वनि है यह
यह उल्लास
वर्षा के नूपुर नाद से
आज जिसने आकार पाया है?

वृक्ष लताओं ने बरसाए पुष्प
माथ नवा कर पत्ते
ग्रहण करते थे वर्षा की बूंदों को
विगलित मेघमाला
सहेज-सहेज कर रसधार दिये

Digitized by PPRACHIN, SOA

बिजली का असी धार
आकाश पर चमक जाते समय
आलोक चमक गया
मेरी मयूर सत्ता पर।
मैं स्तंभित हो गयी
मेरी बूंद बूंद जलयुक्त केश-राशि
पुच्छ की भांति हो कर विस्तारित
उड़ रही थी
श्यामल मोर है क्या वह
श्यामल किशोर
मेरी गोद में छिपा कर मुंह
कांपता था
समूची देह पर उसकी
गूंथे हुये थी मेघ के मोतीयां।

मेरे चारों ओर
चमक रही थी कौन-सी पुकार
दिगंत पर कैसी नील छाया
किसका गैरिक उत्तरीय
ढंक रहा था पश्चिम आकाश को!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

निमीलन

एक

दौड़ गयी
पिंजड़े की सलाखों से मुंह सटा कर
कहने लगी...सुनती हो...वे आयेंगे।
चोंच को पर पर रगड़ती
फुदकती सारिका
कहने लगी
आयेंगे वे...आयेंगे वे...

आंगन की मालती लता को
बांहों में भर कर
फूलों के गुच्छों को होठों से छुआ
आज वे आयेंगे
पत्ते खिलखिला कर हंस दिये।

समीप के आम्रवृक्ष की
जड़ के ऊपर बैठ कर
मैंने पुकारा, जानते हो
आज कौन आ रहे हैं

Digitized by PPRACHIN, SOA

काफी करीब पहुंच चुके हैं
ऋषियों में यही बात है
शवर भी
बेहद उत्सुकता से
बाट जोहे हैं।
दाना चुगनेवाले मयूर के पास गयी
उसके चूल को सहला कर
उसे दे दी खबर
उनके आने की
तो उसने पुच्छ खोली धीरे-से
नृत्यारंभ कर दिया,
देखा, आकाश तो था नहीं मेघमय।
तो क्या उसने देखा
तुम्हारे मेघवर्ण शरीर को
कल्पना में!

केवल मैं ही नहीं
वे भी काफी दिनों से
धूप वर्षा सर्दी सहते हुए
आश्रम के परिसर में
थे तुम्हारी प्रतीक्षा में
मेरी इस अधीर
अतिशयता को
बांट दिया मैंने

Digitized by PPRACHIN, SOA

उनके हृदय में।
कोई बाधा तो नहीं थी
पशु-पक्षी, वृक्ष-लता
मनुष्यों में
इस शाब्दिक विनिमय में।

दूसरे ही क्षण मैंने
कुटिया के अंदर जा कर
बंद कर दिये द्वार।
नहीं, मैं छिपी रहूंगी
छि: मेरा यह परिधान
जटामय केश
अज्ञता, दारिद्र्य जर्जरित
यह देह
सुबकते हृदय को लेकर
उस राजपुत्र, वीर से
अवतार से किस भांति
मिलूंगी मैं
या अगवानी कर
अर्चना करुंगी ?
मेरे कंठ में कहां है गीत
भाषा है कहां
कि एकटुक मार्जित शब्द
बोल कर

Digitized by PPRACHIN, SOA

मेरी सारी आकुलता जता दूंगी!

किसी के पैरों की आहट आ रही है क्या?
हाथ धरे कानों पर...
कोई पुकार रहा है क्या मुझे
नाम लेकर?
भूख-प्यास से आकर
मेरे बरामदे पर?
बैठ गया है कोई?

महकने लगा है यह घर
ताजा लिपे-पुत्ते फर्श पर
उभरते आ रहे हैं लाल-लाल
गुलाबी पदचिह्न!
लग रहा है मुझे
मानो कहीं दूर से
मेरे हृदय के अभ्यंतर से
अथवा
इस धरती की गहराई से
स्वर एक अंकुरित हो कर
बढ़ रहा है।
कह रहा है मेरे कानों में
कि मैं वनवासी हूं
बलकल है मेरा परिधान

Digitized by PPRACHIN, SOA

जटायुक्त केश
वनफूलों की माला
मुरझा रही है देखो
गले में मेरे।
आंखें मेरी हैं आंसू भीगी
पैरों में मेरे है पथश्रम
और हताशा की छाया है हृदय में
उदर में है भूख-प्यास
फूट नहीं रही वाणी
कंठ से!

किसने बताया कि
मैं हूं राजपुत्र, अवतार
भाग्य के हाथों में
मैं तो खिलौना मात्र हूं!

खोल दिये द्वार
और
निहारा बरामदा आंगन को
कोई भी नहीं था
यज्ञ मंडप भर
सजाने में लग गयी और
सजाते-सजाते ढल आया दिन
पर्वत पर

Digitized by PPRACHIN, SOA

अपना सारा लहू उंडेल कर,
एक पंक्ति चिड़िया
रुद्राक्ष माला की भांति
आकाश पर
बिखर गयी।
महीष गोष्ठ की भांति
दूर से अंधेरा
घिर आता था।

आह्निक के मंत्रोच्चारण से
तुम्हारा स्तव खुलता जाता था
आह्लाद और कारुण्य
घुलते जा रहे थे।
मैंने जाना कि
बीते दिनों का जुलूस
आज फिर थोड़ा
बढ़ गया
तुम्हारा आना एक मधुर भ्रांति है
यह मुझे पता नहीं था क्या?
या तुम मुझे क्या भी देते
क्या मेरे भाग्य के लिखे को पोंछ देते?

स्वयं तो अपने मस्तक पर से
अभिशाप मिटा नहीं पाए,

Digitized by PPRACHIN, SOA

किस साहस से कहूंगी मैं
कर दो पूर्ण मेरी
मनोकामनाएं
जब कि तुम स्वयं
साधारण मनुष्य की भांति
कर रहे हो भोग
दुर्योग और अपूर्णता का!

पर आज प्रातः-काल
पम्पा पुलिन में
जो देखा विचित्र
किस से कहूंगी
किसे लाकर दिखाऊंगी-
देखा,
एक ही वृत्त में
खिले हैं सहस्रेक शतदल
लाल, नील, श्वेत
और हरिद्रा वर्ण के
तटस्थ ही हुई...
यह कैसा रहस्य है!
और लगा मुझे
कि है यह
तुम्हारे आगमन का
पूर्वाभास।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

दो

उन ही से तो पूछा होता बताओ किस भांति
यह हुआ संभव कि
एक ही वृत्त से खिले
सहस्त्रेक शतदल,
पम्पा तट
लाख भौंरों की गुंजार से
उच्चारित हुआ!

पर वे कब से हैं परलोक वासी!
नहीं पूछने पर भी
क्या होगा उत्तर उनका
मुझे मालूम था।

पिछली मध्य रात को
मेरी चेतना के आकाश पर
रुप उनका हुआ प्रतिभात
उनकी धूमिल मूर्ति धीरे-धीरे

Digitized by PPRACHIN, SOA

देह हीन तेज बन
छूने लगी वक्ष और ललाट को मेरे

मैं पीछे हट गयी
और बोली
यह है कैसी निष्ठुरता
तुम्हारी हे गुरु,
मेरी अकेली इस रात के भीतर
आप आये क्यों कर
मुझे छोड़ जाने के पश्चात्?

मैं और जीऊंगी नहीं
आश्रम को सजाऊंगी नहीं
घुन खायी इस देह को
और घसीटूंगी नहीं
अकर्मशीला की भांति
दुःख के इस बोझ को
और उठाऊंगी नहीं
नासमझ इस पृथ्वी

Digitized by PPRACHIN, SOA

उसकी ईर्ष्या
सहूंगी नहीं,
नहीं।

तेज से धीरे-धीरे
हुआ उद्भासित
एक दूधिया रंग का चेहरा।
किस भांति आकुल वेदना से
आंख खुलती जा रही थी
कांपते थे होंठ
आकाश बंट जाता था दो भागों में
गभीर गोपन एक स्वर ने
खुल कर
घेर लिया मुझे
कहा मुझे
कहा कानों में मेरे
देखो, तू अगर भागोगी नहीं
इस पृथ्वी को छल कर,
तेरा नाम रूप मिटा जायेगी तो

Digitized by PPRACHIN, SOA

यह दु:ख यह हाहाकार का
धरती से
अंत हो जायेगा?

कितने प्राणी
वहन करते जा रहे हैं
चलते रहेंगे
ढोते इस धरती का भार-
रहने दो, रहने दो
मैंने हाथ जोड़े
'और नहीं प्रभु
इस पृथ्वी को
इच्छा हो जिसकी वह भोगे
न रहे यह शबरी और
छटपटाने को!'
न रहे!
उन्होंने खोले हैं होंठ और
उनकी मुसकान से करुणा की
बूंद-बूंद टपकने लगी
भीग गयी मेरी अधीरता

Digitized by PPRACHIN, SOA

उनके अधर से
मीठे बेर की भांति
एक एक कर
वाणी टपकी-
पगली हो,
वे आयेंगे
पता नहीं कितने
दु:ख और विपदा झेल कर
कितनी व्याकुलताएं
हृदय में धरे
यहीं अब पहुंचेंगे
कौन उनका पग पखारेगा?
स्वप्न या सच
पता नहीं लगा पायी
स्वप्न स्वप्न, सच सच-सा लगता था
अभी-अभी किसी के जाने की भांति
आतुर नि:संग भाव
लद गया था पवन में।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

तीन

बादलों में बिजली के छिप जाने की भांति
तत्काल वे छिप गये।
कौन कहता है कि यह स्मृति है ?
ये तो वर्तमान
स्मृति के कई थे हिस्सेदार
ये वर्तमान
केवल मेरा है, मेरा!

वे आयेंगे
उस दिन ही मैं
शय्या पर से उठूंगी
निहारूंगी
कुटिया की दरारों में से
जल रहा है न एक-एक दीया
आंगन को आ जाऊंगी
पक्षियों की चहक से
चूर होती जा रही है

Digitized by PPRACHIN, SOA

सघन निस्तब्धता
मंद मंद समीर
सुगंध शीतलता की उंगलियों में
छूते जा रहे हैं केश मेरे
मकड़ी के जाले में
झूल रही है
मुक्ता माला ओस की
भीगी मिट्टी, भीगी घास
दबाते पैरों में
उत्कंठता से हो रोमांचित
आंख की सारिका को मैं
उड़ा दूंगी दूर
वन के उस पार...

पेड़ पत्तों की आड़ से
आधे दिखे आधे छिपे
आता होगा कोई।
उन्मुख मेरे हृदय को
नाच उठने के लिए
निषेध करूंगी
आंखें मूंद लूंगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

क्योंकि मैं जान गयी होऊंगी
कि अब की बार विफल हुई तो
टूट जाऊंगी मैं
मिट्टी के गोले की तरह।

सामने वे खड़े हो जायेंगे
मैं खोलूंगी आंख
सच-सच, झूठ-झूठ
लगता होगा
सहेजी हुई बातों से
एक भी शब्द
फूटेगा नहीं
कंठ से मेरे
मैं बस ताकती रहूंगी
पत्थर को नारी में
बदल देनेवाले उन दिव्य
पैरों को।

कैसे पता चला तुम्हें कि
पत्थर के नीचे था झर?
अंधी लालसा का विषैला वार

Digitized by PPRACHIN, SOA

अहंकारी कर्तृत्व के
बेशुमार क्रोध और घृणा
भोगने के पश्चात् ही
सत्ता एक बन जाती है पत्थर!
कैसे तुम्हें पता चला
रक्त चंदन से रंगे पैरों को
छूते ही
सारे पराभवों की केंचुलें
गिर जायेंगी
उत्तम लावण्य मूर्ति चमकेगी
प्रार्थना का निर्यास फूटेगा!
किस भांति जाना तुम्हें
पूछ न सकूंगी
देवी, मैं आतुर हूं
क्षुधा तृषा और पथ के श्रम से
मैं विश्वास कर न पाऊंगी कि
यह विनती है उनकी आंखों की
थिरकने होंठ हैं उनके!

मेरे भीतर से शब्द
डैने फड़फड़ाए

Digitized by PPRACHIN, SOA

निकलेंगे... कि
कितनी बार आयी हूं मैं
इस के पूर्व जहां से
लौटी थी मैं, पहुंची हूं वहां
जगत् मय वृक्ष से लता से
फल तोड़े हैं, चखे हैं
मेरे अपनी विभ्रांति
अहंकार
परश्रीकातरता को
परखा है बारंबार
कटुतिक्त कषाय फल के समान
एक-एक कर फेंका है सब को
सुमधुर रस से भरपूर
सुपक्व फल की भांति
मेरा प्रेम
अभिमान, सहिष्णुता को
संचित कर रखे हैं
तुम्हारे लिए।
ले जाओ सब कुछ
और दिखाओ भी
तुम्हारे रक्त-चंदन-चरणों से
पोंछ दूं मैं धूल

Digitized by PPRACHIN, SOA

राह भूलेपन को तुम्हारे
हाथ पकड़ ले जाऊंगी
बता दूंगी राह।

वे अभय मुद्रा में
उठायेंगे कर पल्लव
करेंगे जिज्ञासा मेरी कुशलता की
मैं कहूंगी
नीड़ एक था मेरा...
पल्लवनिर्मित स्वर्ण एक नीड़
सहचर शावक थे
कैसी चतुराई से
खींच लिया उन्हें समय ने...

मैं खोल कर दिखा दूंगी
मेरे हृदय को
मेरे हृत्पिंड पर
लिपिबद्ध
जितने हैं मर्मन्तुद
शोक और निराशा
सारी प्रवंचना
और रक्तपात

Digitized by PPRACHIN, SOA

वे मेरे क्षताक्त हृदय को
सहलाते-सहलाते
पिघलते होंगे
और ओष्ठाधर
कुंचित हो कांपते होंगे
संवेदना से

मैं पकड़ लूंगी हाथ उनके
क्या मैंने कोई अभियोग किया?
मुझे क्या नहीं है पता
धरती है असहाय कितनी।
क्या क्या दे सकती है
ले सकती है
है मुझे पता
वह लीलामय भी
अकेले हैं कितने
पर्वत के समान
हताशा अवसाद के
सुगंधित फूलों पर
कैसी भंगिमा में
खड़े रहते हैं?

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

चार

ये किसके पैरों की आहट है
आधी पहचानी-सी
फिर अन्य पैरों की आहटों से है भिन्न!
शीतार्त गंभीर रात
लगा मानो आ रहे हो तुम
मेरी सारी उत्कंठाओं को
कर के अर्थमय!

बिछौने से उठ आयी मैं
धूल पर देखा,
हैं तुम्हारे पैरों के निशान
इस भांति नया वह पगचिन्ह जिसे
छिपा कर रख नहीं सकेगा
अंधेरा कदापि
है कहां पवन की शक्ति
कि उसे ढंक दे
उड़ाकर

Digitized by PPRACHIN, SOA

धूल और झरे हुए पत्तों को?
इच्छा हुई मेरी कि
उड़ जाऊंगी
बन कर एक झोंका पवन का
तुम्हारी ओर
तत्काल बन डोरी एक
बांध देती तुम्हारे पैरों को
और तुम हट कर जा नहीं पाते
अंजुरी भर उष्मता बन कर
यदि मैं भेद कर पाती
तुम्हारे रोम-रोम।

कोई भी नहीं था कहीं।
शून्यता ही हँस रही थी
वात्सल्य से।
मिट्टी पर सो गयी मैं
पगचिन्हों को छुआ
होठों से

Digitized by PPRACHIN, SOA

चूमते समय
कभी खो बैठती तो
पुनर्बार
पा भी लेती थी।

वसुधा में भेदती जाती थी
मेरी तपती सांस
हृदय सीपी की भांति
फटता जाता था
सुवर्तुल एक मुक्ता की तरह
स्वरहीन उच्चारण
'तुम आओ'
टपक आता था।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

पांच

किस उद्देश्य से तुम
झंझा बन रहते हो
सागर की गर्जना बन
पुकारते किसे
निविड़ निशा में
रुनझुन चांदनी बन
सहला देते हो किसे
किसे ढूंढने के लिए
दुर्गम बन के पथ पर
क्लांत, श्रांत चलते रहते हो
आह, आंसू कर एकाकार?

समझ नहीं पाती हूं मैं
क्यों कर होती हूं अंकुरित
और बढ़ती हूं
फिर उभरता है
एकक आकुलता का स्वर एक

Digitized by PPRACHIN, SOA

निराधार भूमि के
किसी एक निर्दिष्ट कोने में
निःशब्द बजता रहता है-
किस लिए तुम
झड़ की झंकार से
प्रकंपित सायं-सायं
आते हो
मेरे स्वर को उठा कर
भर लेते हो गोद में
अपने में कर लेते लीन
दूसरे पल फिर मुझे छोड़
चल देते हो अकेले तुम अपनी-अपनी राह।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

छह

जब मेरे चारों ओर से
ओझल हो जाता है अरण्य
सारे जन प्राणी हो जाते अदृश्य
समय पोंछ देता है
आपाधापी में
परिचय अपना
तब मैं कतराती हूं
आने को तुम्हारे समीप
कैसी आश्चर्य स्थिति है वह
घिर आता है
तुम आते हो इसलिए
आशा नहीं कर पाती
फिर भी, कहीं मेरे अंदर
चंचल नील शोणित की धारा
नाचते रहते हो
किसी शिरा धमनी में
नाचते रहते हो।

Digitized by PPRACHIN, SOA

फिर मेरे बाहर
पर्वत एक उभर आता अदूर ही
जिसके नीचे से
धीरोदात्त रसिक नायक
अदा-से चलते हुए
आते रहते हो।
मेरी एकटक नजर
तुम्हारी तयशुदा राह की भांति
पैर तले पसरी होती थी
तुम्हारा श्रीअंग
मेरे हृदय की माटी पर
बढ़ी हुई नरम दूब का
नीला रंग से पुता हुआ
यह मैं खूब समझ सकती थी
मेरी त्वचा के सारे वर्ण
और गंध लेकर
बकुल पुष्प रंग का तुम्हारा पहराव
अपनी इच्छा से झूमता था।

Digitized by PPRACHIN, SOA

धीरे-धीरे तुम आते हो पास
हृदय के अंत:पुर में
होते आविर्भूत
हठात् समय
अपनी निर्दिष्ट सीमा लिए
खड़ा हो जाता है
अंकुरित हो उठता है अरण्य
होता है सिहरित...सिहरित
जब तटस्थ हो जाते हैं जन प्राणी
मेरे हृदय के द्वार की तरह
मेरी दो आंखें
मुंद जाती हैं
अपने आप।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

सात

यदि मेरा चाहना झूठ है
झूठ है लंबी सांस
मुहुर्मुहु
रोनी अनुभूति
रोम-रोम सिहरित
पुलक भी मिथ्या,
दिगंत के उस पार
आकाश की भांति
तुम्हारी अस्मिता को
अनाकलनीय मेरी बाहों में
भर कर रख लेना यदि
कल्पना केवल है
निर्निमेष मेरी नजर-सी
लंबी इस पगडंडी पर
पैर धरना तुम्हारा
है यदि मात्र विडंबना
मेरे भाग्य में लिखित
यह संबंध यदि
अनुपस्थिति प्रभात के

Digitized by PPRACHIN, SOA

आकाश पर केवल
है एक कोहरे की रेखा
युग-युग जन्म-जन्मांतर
सत्ता मेरी व्यर्थता से गठित
तुम्हारी क्लांति और असहायता के
बंजर के अंतिम छोर पर
यदि मैं बरसूंगी नहीं
स्नेह, आश्वासना की
विगलित धारा
हे दिव्य पुरुष,
तो सब कुछ बने मिथ्या
अब तक की मेरी सत्ता के
प्रकटित अप्रकटित
जितने परिचय
आज ही से खो जायें।

करोड़ों अंशों में मैं विभाजित होकर
महाशून्य के पथ में
मिट जाऊं
तुम्हारे गौरव और आश्वास
तुम्हारी सन्निधता की कल्पना में से
स्वतंत्र होकर मैं
भूल जाऊं अपने
होने का अहसास।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

आठ

पेड़ की शाख पर लटका
पीला पत्र हूं मैं
हवा का एक झोंका ही
बहुत अधिक होगा,
राजपुत्र
आकाश में जमने लगे बादल
आज कोई भी बटोही
सहज ही भूलेगा पथ।

तुम राह से भटक गये हो अवश्य
दिखाई न देते आस-पास
लगता है मुझे कि
किसी दूसरी धरती
कल्पना से परे एक जगत् से तुम
आ रहे हो मेरी ओर
तुम्हारे पैरों की आहट
बज रही है हृदय में मेरे

Digitized by PPRACHIN, SOA

अथवा
मैं खुद ही हूं माटी
हो रही हूं स्पंदित, चमक रही हूं
तुम्हारे पद्म चरणों के आलपना से।

वक्ष पर हाथ घरे
मैं प्रबोधित कर रही हूं मेरे हृदय को
यह कैसी उदासी मेरी तेरी
क्या सोचते हो
सारे भोग-अभोग आज ही
खतम हो जायेंगे ?
नहीं, नहीं
आओ तुम दु:ख के समान
अभी आओ, झूल जाओ गले में मेरे
न सहा जाये वैसी
या न कही जाने वाली
यातना
अख्तियार कर ले मुझे पूरी तरह से
सकोगे तो मुझे भी
ले चलो अपने साथ।

Digitized by PPRACHIN, SOA

मेरे स्वार्थ, मेरी कुंठा
हिसाबी भावनाओं से
मुक्त करके ले चलो
शाल वृक्ष के तन पर
लिपटी हर गांठ पर
लता हूं मैं
तुम हो क्षिप्र प्रभंजन
मुझे खींच कर प्रबल वेग से
कहीं दूर, कहीं ले चलो
सच कितने युगों से मैं
किस वर्ष से
इस भांति जड़ जमाये यहां
इस वृक्ष के तन को जकड़े हूं
कि गतानुगतिक इस बंधन से आज
तुम मुझे मुक्त करके ले चलो।

कुछ कहते हैं इसे प्रभाती तारा
पर तुम्हारी मुस्कान मानो
पहाड़ की चोटी पर

Digitized by PPRACHIN, SOA

डोलती-सी लग रही है।
तुम्हारा आना यद्यपि निश्चित है
फिर भी
मैं केसे प्रकाशित करुंगी नयी बात
स्वर है कहां, कहां है भाषा
पल में दिखने पल में गायब
होनेवाला तुम्हारा यह रूप
एक सुरभित सांस बन कर
लीलायित है मेरे हृदय के संपुट में
फिर कभी नीलमय रेखा बन कर
चमक रहा है दिगंत में
उस रूप को मैं
प्रकाशित करूं किसके आगे
वे कहेंगे देखो
पगली है यह शबरी,
कर रही है कैसी आश्चर्य की बात
अनमनी नजर से तकती है
आधी भूल भी जाती है
अकेली बैठी-बैठी
लगी रहती है
किसी के स्वागत-सत्कार में

Digitized by PPRACHIN, SOA

गुनगुनाती रहती है।

मैं समझ रही हूं देह देकर
आत्मा देकर युग-युग
पानी और पवन के आघात से
काले-काले लकीर पड़े
एक पत्थर पर
अपनी अस्मिता को एक करके,
मैं समझती हूं
कि तुम्हारा आना
है नहीं बड़ी बात
यह भी कोई खास नहीं
कि मेरे द्वार पर तुम्हारा आना
और मिटाना भूख-प्यास
मेरे लिए तो सब से बड़ी बात यह है
कि मेरे असफल
हर एक कदम में
मूर्च्छित होती जाती
आत्मा को मेरी
सहला देना
प्रबोधित कर देना।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

नौ

गोधूलि के सामने खड़ी हो गयी।

दोनों आंखों में दो वर्णच्छटा
झिलमिलाते रंगों की
अस्त होती जा रही थी
उस रंग से सुरंजित
आकाश की भांति
मेरा हृदय भी सुसज्जित है
विविध अभिलाषाओं के
तरल वर्णों से।

अकस्मात पता नहीं कैसे
एक ही अभिलाष के अतिरेक
मैंने और सब पोंछ डाले
उस अकेली अभिलाष के
अंधेरे बीजगर्भ से
हुई अंकुरित

Digitized by PPRACHIN, SOA

सभी मृत्युओं से
शुद्ध उर्वरता लेकर
अपूर्व लता शरीर
शाखा, प्रशाखा, मुकुल
पत्र किये प्रसारित।

लता के तन पर
इंद्रनील मुकुल
माणिक्य के ताजे फूल
पुष्पराग रत्न के केशर
सरस मधुर फल
भीगी माटी
भीगी जड़
अति पक्व रस
झड़ी पंखुड़ियां
पुष्प धूलि से सराबोर
मधुपायी पतंगों के
झुंड, चहल-पहल
ऐसी एक लतिका बनी जो
शून्य को लांघ जाने को
अधीर आकुल।

माटी के मांज से

Digitized by PPRACHIN, SOA

संबंध है यह अभिलाष
मेरी जड़ के पहाड़ चढ़ कर
भेद गयी शिराओं में
तुम्हारे सम्मुखीन
कराने के लिए
सजाया मुझे
उसी के निर्देश से
विपुल यह धरती
उसके सुविशाल अरण्यों के रहते
यहां, इस निर्दिष्ट भूमि पर
हुई मैं अंकुरित
आज तुम्हारे प्रयोजन के समय
मेरी अस्तिता का कर श्रृंगार
कर दिया रसवंत।

क्यों कि तुम ही हो
मेरे अभिलाष-जर्जरित-उच्चारण
मेरी सत्ता के निर्भय आश्रय
और मेरी स्थिति के
नीलाभ कारण।

आज नहीं कई बार
निशार्ध की स्तब्धता के भीतर

Digitized by PPRACHIN, SOA

अर्ध निमीलित
चांद की आंखों से अब जब
टपकती हैं शिशिर की बूंदें
मानो कोई कह जाता है
मर्मरित पत्तों की घनता में से
मैं तो कब से हूं
कब से...
तुम्हारे पास...
मैं कहती हूं
या कहते हो तुम
समझ नहीं पाती, है स्वर किसका
फिर भी
मेरे शोणित स्रोत के ज्वार में
पक्षी एक के
डैने पसार उड़ जाने की
अनुभूति आती है मुझे।

किसी के पैरों की आहट
सुनाई पड़ती है
स्वप्न की भांति, माया की तरह
दूर घने अरण्य में
कोहरे की चादर समान
छिप जाते कितने कुछ

Digitized by PPRACHIN, SOA

भरी दुपहरी में
कौवे कोयलों की ध्वनि तक
सुनसान, कौन चला जाता है...
हताशा-परिपक्व मेरी शंका के जाल में
फंस कर
अतल अनुराग की सीमा पर
मैं खड़ी हो जाती हूं।

तुम आ जाते हो
जटामय अविन्यस्त तुम्हारे केश पर
पल भर रुक कर
विदाय की याचना करते
अस्त सूर्य के स्फुरित होंठ।

नीड़ के अभिमुखी पक्षी
केवल मेरी समझने की भाषा में पूछते
बताओ तो कौन है
यह म्लान मुख सुंदरतम पुरुष
है कौन...
कुंज छाया की शीतल सुगंध में
तुम बैठ जाते हो।
बार-बार झुक कर
मैं छूती हूं तुम्हारे

Digitized by PPRACHIN, SOA

क्लांत श्रांत श्रीअंग को
पदों को केश को
अधरोष्ठों के
अस्फुट स्वर से कहते रहते हो
यह कैसा स्वाद
कैसा सुवास
इस भांति तो कहीं और है नहीं

मैं कुछ कहती नहीं हूं।
जानती होती हूं कि
रक्ताक्त मेरी जड़ की तरह
तुम्हारी चरणांगुलि
घर्माक्त तुम्हारे ललाट
एक न एक दिन
मेरे कुंज की छाया तले
आकर रुकेंगे
और सर्वोत्तम स्वाद गंध
ढूंढेंगे मुझ में।

इस लिए तो झड़
कड़ी धूप समय की ताड़नाओं के
बावजूद मैंने
मना कर दिया था फूलों को

Digitized by PPRACHIN, SOA

मुरझाने के लिए
कोमल वृन्त में
सर्पों के नाग-बंधन सहते-सहते
काली पड़ गयी दावाग्नि में जली
निर्दय लकड़हारे की कुल्हाड़ी के
प्रहार को
मान लिया इस शरीर के
आभूषण के रूप में।

मुझ में मैं
विलीन होती गयी
ऋतु के आद्य
बेदाग सतेज फूलों को
चरणों में चढ़ाए तुम्हारे
मधुरमय फल
निवेदित किया तुम्हें।

मुझ से अंशत: कुछ
स्वीकार करोगे तुम
था मुझे पता
और बदले में उसके
अस्तिता को मेरी
दे जाओगे समग्रता।

Digitized by PPRACHIN, SOA

तुम आये हो या आये नहीं
बिलकुल मैं समझ न पाती
फिर भी
जो कुछ पता है मुझे
सुनना चाहते हो तुम
तो सुनो-
नीरव स्वर में मेरे
अजन्मी भाषाओं से
खोल दूं मैं शोणिताद्र
पोषाक
सुनो...

इस के बाद तुम्हारे
विदाय की वेला आ जायेगी।
क्या विदा है आपेक्षिक!
एक भूमि से
दूसरी एक भूमि को
एक संकल्प से
अन्य एक संकल्प को
आंख मूंदे पग बढ़ानेवाले हे पथचारी
तुम फिर मांगोगे विदाई!

जिस पल तुम आये

Digitized by PPRACHIN, SOA

समीप मेरे
मेरे लता पत्रों के झूले में
झूला तुमने
उसी क्षण
हृदय मेरा लगा विदाई के
प्रस्तुति पर्व में।

देखो...देखो, पूर्वाशा धीरे-धीरे
कोहरे की सफेद रेखाओं को
पोंछ रही है
अपने रक्तिम गालों से
झड़ के प्रबल गति पथ की भांति
तुम्हारे गति पथ के
नवीन दिगंत की ओर
बढ़ते समय
सचराचर यह बन भूमि
इतस्तत:....हो गयी
आंसू से सजल।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

मंत्रसिद्धा

एक

पृथ्वी को
चुपके से पूछती
बताओ तो क्यों
पहले ही कर दिया वंचित तुमने
मुझे मेरे अति साधारण
अधिकारों से ?

सामान्यतम खुली हवा
स्नेह अनुराग का
झोंका भी न आया
मेरी माटी में
हवा और पानी में !

इतनी हृदयहीनता
और अप्रेम के बीच
नारी एक रह सकती है जिंदा,
यह कैसे सोच लिया तुमने ?

Digitized by PPRACHIN, SOA

तुमने भी क्या समझा था
जागतिक इस धरती के बाहर की
अभीप्सा एक पनपेगी मुझ में
और जिसके फंदे में मैं
फंस कर भूल जाऊंगी अपने आप को!
और मेरी परम अभिलाष का
एक क्रियाशील माध्यम बनने को
रहूंगी मैं यहां चिरकाल!
बनूंगी साक्षी सारे दुर्दिन का
किसकी विषण्ण मूर्ति
व्याप्त हो जायेगी...
ससागराधरा
घन कृष्ण तरलता
बहती होगी धार-धार
हाथ और पैर की बेड़ियां
सख्त रस्सी लोहे की
लंबी होगी आकाश से माटी तक
चांद-सूरज छिपे होंगे
उनचास पवन
गरजते होंगे
मैं पहचान सकूंगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

कि है यह निर्यातित धरती की आत्मा
बार-बार ले रही है लंबी सांस
किस भांति झाग
निकल रहा है उसके मुख से
समय की सीमाहीन स्थिति
पृथ्वी की आकुल मिनती
सुनूंगी, देखूंगी
भोगूंगी मैं तिलतिल हृदय में मेरे।
वाक्य एक फूटेगा कंठ से
पृथ्वी, तेरी कंद-सी प्रतिमा का
निर्मम श्रृंखल
मैं केवल हूं तेरी प्रार्थना का स्वर एक
सुन, कैसी है मूर्च्छित
प्रकृति के भीतर
मनुष्य के हृदय में
फिर मैं हूं आवहमान प्रसन्नता
अब ही चमकने लगी हूं
अनगिनत शिशुओं के मुख पर।
कब वंचनाजर्जर समय के
निर्दिष्ट बिंदु पर
खड़ी होऊंगी
अंजुरी में लेकर

Digitized by PPRACHIN, SOA

ताजा प्रेम का
रक्तवर्ण किशलय एक।
मेरी आंखों के सामने
कालसर्प
नर और राक्षस की
मिली-जुली वीभत्सता
सृजित होती जाती होगी
प्रमत्त हंसी में
फूत्कार में डंसता होगा
समर्पित अंजुरी को
किशलय को
भेदन करता होगा
शिरा-प्रशिराओं में
विकट नील
और जल जायेगा रक्त मांस!
केवल प्रेम की
अविचल एक शपथ हूं मैं
यहां ही रहती हूं, रहूंगी
माटी पर रोपित पग
मस्तक पर
तारों का मुकुट।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

दो

आजकल बच्चे रो पड़ते हैं आधी रात को
आग के स्फुलिंग, अस्त्रों की झंकार से
कांपने लगती है निस्तब्धता।
यंत्रणा और आर्त चीत्कार से
शरबिद्ध पक्षी की भांति
अकुलाती अथवा होती है रात
इत:स्तत छिन्न पड़े अवयव
आश्रम की पूतिगंधमय।

काल समुद्र क्या
चल रहा हे उलटी गति से।
नदी स्रोत हो जाता है स्थिर
शोणिताभ विष की वर्षा
जो ढंक लेती है आकाश को
उबलने लगता है जलभाग
अब और सही नहीं जाती
यह नारकीयता
यह दुर्दिन और रक्तपात

Digitized by PPRACHIN, SOA

सफेद होती जाती हैं
शिराएं धमनियां
और आत्मा होती है आहत
मारात्मक रुप से।

जो शिशुगण अब तक जन्मे नहीं
मैं उनके आतंक से हूं जर्जर
सुन सकती हूं उनके कोमल स्वर,
कांपती हूं और टटोलने लगती हूं
जो बच्चे जन्मे नहीं हैं
चीख कर जगाती हूं उन्हें
लाड़ले मेरे, प्यारे दुलारे मेरे
बिलकुल डरो नहीं
लोरियों की लहर
उठेगी फिर से
यह रात चुप हो जायेगी
दूधिया चांदनी में
भीगते से जाओगे तुम
अब इस भयानक रात को देख कर
हे अनागत तुम डरो नहीं।
रक्त-मांसहीन इस शून्यता में
सो नहीं जाओ चिरकाल।

Digitized by PPRACHIN, SOA

सदा के लिए क्या
राक्षस यहां
मचायेंगे उत्पात
हर एक वृक्ष की आड़ से
पर्वतों के भीतर से
निकल आयेंगे एक-एक कर
हंसेंगे विकृत हंसी
हाड़-मांस नोच कर खाने के पश्चात्
नहीं डरो नहीं तुम
अभिनव सूर्य की तरह
दिगंत से खिल आयेंगे वे
करुणार्द्र कर से
स्पर्श कर सचराचर को
घमासान युद्ध में कर
परास्त राक्षस को
समय को अमृत रस से
अखंड प्रेम की सुगंध से
अभिषिक्त करके।
कर रही हूं न मैं
प्रतीक्षा उस उदय लग्न की
पौ फट आनेवाली एक
रात की तरह!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

तीन

आकाश से झर रही है आग
दावाग्नि करती जा रही है ग्रसित
सांप की भांति...
अधजले पक्षी, खरगोश
गरज रही जठराग्नि...
खाए जा रही है
शिरा, स्नायु, रक्त, मांस, हाड़
नख और केश
लपलपाती जीभ फिराए
चाट रही है सारे आवेग
साँस को।

मरी चिड़िया की आंख
खरगोश की जली सूरत लिये
कंपित अवश
माटी घट पंजर को
बर्फ के सागर की ओर

Digitized by PPRACHIN, SOA

बढ़ते देखा है मैंने
मैंने देखा है
खाली-खाली सूखे पेट
होंठ के चबाने पर
रक्त की लकीर
और पलित मांस भक्षण के
नर्क की साक्षी हूं मैं।
भोगी है मैंने क्षुधा और तृषा
मैंने देखा है
मुट्ठी-भर दाने के लिए
इनसान का
पानी के बुलबुले की तरह फट जाना।
पेड़ के कोटर के अंदर की
आग की भांति अगर
मत्त हो प्रबल जठराग्नि।
कहां है ज्ञान, मान कहां
है कहां परमार्थ?
तिलमिलाते कितने हैं पंच-प्राण!

दिगदिगन्त ताम्राभ

Digitized by PPRACHIN, SOA

योजन-योजन परिव्याप्त
अधजली भूमि
ज्वरग्रस्त हवा की दीर्घश्वास
कूद जाती है
झुलस लगती है छाती और मुंह पर!
एक-एक कर रक्तकणिका में
शस्य रस से परिपूर्ण दूध
नाभि-नाट परिवृत्त विवेक चेतना
रस भरपूर
माटी से उपजे
पत्र, फूल, फल और जड़।
कौन जाने
मात्र एक बूंद जल
एक शस्य कण
क्या-क्या बना सकता है
बिगाड़ सकता है
ईश्वर के अस्त्र के भंडार में
सब से शक्तिमान
अस्त्र हो सकता है-
ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि
स्नेह की, प्रेम की

Digitized by PPRACHIN, SOA

सभी सरसताएं
कर सकता है विध्वंस।

मेरे हाथों में लेकर
मुट्ठीभर दाना
खिल-अखिल पृथ्वी के
प्राणों के निःशब्द चलप्रचल को
अनुभव कर सकती हूं
'ॐ नमो विश्वदेवाय'
मस्तक पर लगाती हूं।

आज यदि वे आते
मेरी कुटिया को
तो
भूख-प्यास पीड़ित कोई
सभी कमियों को भूल कर
मैं उन्हें खिलाती
सब से मीठा फल
चुन-चुन चख-चख कर
भंडार से मेरे।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

चार

लगातार कई दिन
उल्लू चीखा
चिल्लाए सियार
भरी दुपहरी में
गिद्ध के डैनों से
जितनी अशुभ खबर
झर आयी
और आकाश
लगने लगा श्रीहीन!

ऋतुओं के अनुसार
फूल
अनखिले रहे
पक्षी उड़ कर आते-आते
प्रतिकूल धुंध में
खो बैठे अपने डैने।

मौन व्रती ऋषियों के होंठ

Digitized by PPRACHIN, SOA

रह गये खुले के खुले
एकाधिक बार सपने में मेरे
दिखाई दिया महिष एक
जो गरजते हुए
मिट्टी तोड़ने लगा सींगों से
पर्वत धंस गया।
भय...भय...
कोमलता की राख
बिखरी चहुंओर।

तब मैंने समझा कि
काले-काले बादलों की भांति
चौदिशाओं को घेर कर
अनेवाले
राक्षस के विरुद्ध

युद्ध के लिए तैयार
तुम्हारा नील तन
थर-थर कांपने लगा।

भीषण शस्त्राघात से
तुम्हारा आहत होना
रक्त-धार का धरती पर

Digitized by PPRACHIN, SOA

गिरने के सारे चाक्षुष प्रमाण
मुझे लगा मानो
धूल के कण ही प्यासे थे
धूल के कण पर रेंगते कीड़े भी
थे तृषित,
तृषित था काल-पुरुष
प्रकृति करती थी
उच्चारित बार-बार
तृषा...रक्त तृषा
शोणित...शोणित...

निर्झर रुधिरमय
उस निर्झर की धारा में
अत्यंत काकुस्थ हो
मैं खड़ी हो गयी
सोचने लगी
इस पल तुम्हारा
रुधिराक्त वक्ष देश
पोंछ देती, कहती
हे नीलिम पराक्रम,
यह अरण्य, यह निर्झर
पुष्परज सेचित यह भूमि
रक्त का तांडव

Digitized by PPRACHIN, SOA

क्यों है यहां
विभीषिकाएं इतनी ?

यह यंत्रणा, तिलमिलाहट
रात-दिन की सतर्कता
किस लिए है, बताओ
कई बार कितनी लड़ाइयां
सुकुमार तन पर तुम्हारे
कैसा शस्त्राघात
सहा है तुमने
तथापि इस धरती पर से
राक्षसी कूट क्या
अपसारित हुआ कभी ?
इसलिए तुम्हारे
जीवन की विफलता
कितनी बड़ी है नहीं ?

भूल जाओ विफलताओं को
लड़ाइयों को
राक्षस-राक्षसियों के छल
भूल जाओ
वीरत्व की मर्यादा का अहंकार !
आओ मेरे समीप

Digitized by PPRACHIN, SOA

माथा धरो छाती पर मेरी
पल-भर के लिए लेट जाओ
संग्राम से भरपूर
तुम्हारे जीवन के
गत और आगत
जितने रक्तपात
उसके लिए
जितनी बाध्यता, बाधाएं
सब भूल जाओ यहां!

जानती हूं मैं
अविश्रांत जीवन में तुम्हारा
यदि कोई एक पल
रह जायेगा अनभूला होकर
मैं रहूंगी वहां
निर्भय आश्रय उत्सर्गित
आश्वासन के रूप में
तुम जानते हो
अच्छी तरह जानते हो
युगव्यापी संग्राम से
पल का आश्वासन
रह जाता है स्मरणीय बन कर।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

पांच

यद्यपि मैं जानती हूं कि
तुम्हारे पगचिह्न
युग-युग अंधकाराच्छन्न
मेरी भाग्य-रेखा पर
मात्र एक बूंद उजाला है
यद्यपि
तुम्हारे स्वर के अतिरेक
और कोई मधुरता
है नहीं मेरे भाग में
मैं खुद अपने भाग्य को
निर्दिष्ट तरीके से
कब से सजा कर रख चुकी हूं
फिर भी तुम्हारा अनागम
आज के लिए समुचित है
यह समझ सकती हूं आसानी से।

पहले मैं सोचा करती थी

Digitized by PPRACHIN, SOA

आकाश को ताकती हुई
प्रबोधित करती थी अपने आपको
तारा अगर गिर पड़े इस बार
तब जानूंगी
तुम्हारा आना है असंभव।
और देखो तो
निर्मम तारा टूट जाता है!
यदि यह व्यग्र हवा
वर्तमान के लिए
रुक जाती है तो
जानूंगी
कि सच नहीं है तुम्हारा आना
देखते ही देखते
किस भांति निर्मम आक्रोश से
निस्तब्ध हो खड़ी
हो जाती है वह!

विफलता के अहसास से
मैं सिर पटकती थी
निष्प्रभ कर देती थी
सूर्यालोक को
निरंतर दीर्घ नि:श्वास से
धार-धार

Digitized by PPRACHIN, SOA

स्याह आंसू बहा कर
रात के अंधेरे को
कर देती थी अधिक गाढ़ा।
पर आज पता नहीं क्यों
अपने को उस भांति
थोड़ी-सी करुण प्रबोधना
देने को मन ही
करती नहीं हूं।

तुम जो आओगे नहीं
यद्यपि आत्मा में मेरी
लिखित तुम्हारी प्रतिश्रुति
झूठी नहीं थी कभी भी
तुम्हारे कंठ स्वर का निःशब्द गुंजन
आकुलता, फिर भी
मेरे अपने हृत्स्पंदन
अनुभव कर
समझती थी मैं
मेरे अतिरेक
है नहीं तुम्हारा कोई
अलग अस्तित्व!
भिन्न कोई अस्तिता अगर
न होती

Digitized by PPRACHIN, SOA

कैसे भी तुम कहां से निकल कर
कहां पहुंचते
किस दूरी को
किस दूर को लांघ कर
किस आश्वासन से
किस स्नेह-अनुराग से
मिलते
अभिन्न होते!

कोहरे की भांति
या इंद्रधनुष समान
बिंब की तरह
तुम्हारी स्थिति
मुझ से है जुड़ी हुई
मेरी मुट्ठी में
केवल है स्नेह, बत्सलता
धूप की सुगंध
फिर आधी छिपी
आधी दिखने वाली
भावुकता...

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

छह

झरने के पानी के बीच का
मैं पत्थर हूं
मुझे निगल जाने को
लपलपाती जीभ
चारों ओर से घेरती जा रही थी...

कलकलाता स्रोत
धार है या है
घटनाओं का प्रवाह
जो बहता जाता मुझ पर
मेरी स्थिति क्या कभी समर्थ बनी है
किसी को एक पल रोक लेने को
जीवन-भर।

ये घटनाएं ही एक दिन प्रतीक बनेंगी
मैं भी बनी होऊंगी प्रतीक एक
कल्पनातीत आशा का

Digitized by PPRACHIN, SOA

एक पत्ता बन कर
सब से ऊंची शाख पर
झूलूंगी
ऋतुओं को ढिठाई से
स्वतंत्र होकर मैं
हाथ उठाए रही होऊंगी
आकाश की ओर।
मेरा कोई नाम है क्या?
रस ऋषि महाकवियों के से
शब्द संभार हैं कहां जो
वे करेंगे नामित
स्थान और काल के ऊर्ध्व में
अंकित एक प्रतीक्षा को
संपूर्ण उत्सर्गित भाव से
शराबोर आशाहीनता को?
मैं झरने के बीच का पत्थर हूं
मेरे भीतर जो है कठिनता
मेरे मांज को
आंदोलित कर नहीं पाकर
किस भांति विकल्प आक्रोश से

Digitized by PPRACHIN, SOA

सिर पटकते
बार-बार पुकारते
हाय...हाय...
ना...ना...
खोलो...खोलो...
मेरे भीतर कांपती रहती है
निरंतर स्तुति एक
किसी के न सुन पाने की भांति
खूब निविड़ता में
है सभी घटनाओं का निर्यास
है घटनावर्जित काल
बोलो...बोलो...
मैं कब हो जाऊंगी मंत्रसिद्धा
कि मेरे कहने पर
घटनाएं घटेंगी-
और मैं इच्छा न करूं तो
घटित होनेवाली
प्रचंड घटनाएं
रुकी रह जायेंगी!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

सात

सभी शून्य स्थलों को मैं
पूर्ण कर दूंगी।
कुत्सित को तुमसे करके अलग
फेंक दूंगी दूर से दूर।

उसी के कारण तुम
खड़े होते हो रिक्त और कठोर
देखते हो मेरे मुंह को
इसलिए असंख्य पोथे
और पुराण
सत्य का माया-बंधन
आपेक्षिक उच्चारण में
मैंने उद्‌बोधित किया है अपने को।

कापुरुष की शिथिल
ठंडी बाहों के घेरे में
मैंने दिया है उंडेल
मेरी अनुरक्त छाती को।

Digitized by PPRACHIN, SOA

स्वार्थी के चाटुकारी
हाथों में मैंने किया है
अर्पित
मेरे सारे निवेदन और मिनती को
स्वभाव से
गुमसुम और स्वाभिमानी शब्दों को
खड़े किये हैं मेरे समर्थन में
भोगी हैं मैंने लाखों असमर्थताएं
जैसे-
पल के लिए भी
मंत्रणा के चंगुल से
उबार न सकी
एक भी इनसान को
अपने रक्त से
पोंछ नहीं पायी
पृथ्वी की भयानक भाग्यलिपि से।
पहचान न पायी फिर भी
प्रतिश्रुतिमय कोलाहल के
भीतर एकाकार होकर
सुनाई देनेवाले झूठ और सच को।

बारंबार किया है अनुभव
मैं हूं एक आमंचित धनुष
किस की इच्छा का तीर

Digitized by PPRACHIN, SOA

है मुझ में संयोजित
जो छूट जाता है किसी
निर्दिष्ट दिशा में।

पर यह है एक
समर्थता मेरी।
विपुल और साधारण
शेष व प्रथम।

सरजूंगी मैं तुम्हें
जन्म दूंगी
असुर से बलवान
और कर के सुर से सुंदर
फिर भी निठुरता में
देवत्व के अहं में
समर्पिता एक नारी को
दंडित करने के उल्लास से
मुक्त कर, करके अलग
सारे संदेह से
छल-कपट से
महावीर,
मैं तुम्हें
बना दूंगी फिर से
सुपुरुष!

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

आठ

शब्दहीन निशीथ में यहां
कौन आता है, जाता है
सुनाई देती है किस के
पैरों की आहट
झींगुर का तना स्वर
छाया आलोक की
रहस्यावृत यह भूमि
हर एक घास में है
रात्रि का सम्मोहन!
विनिद्र रात की कल्पना और वास्तविकता को
गूंथ कर
मैं यह कैसा जाल
बुनने लगती हूं।

पता नहीं क्यों मुझे लगता है
मैं उस दिन
बाहर चली जाऊंगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

समीप के मंडप पर से
तुम्हारी छटपटाहट
सुनूंगी और पहचानूंगी सांस को
दहकती सांस चलती होगी
परम अतिथि,
मैं तुम्हारी कलाई और ललाट छूऊंगी
यह कैसा ताप
यह कैसा ज्वर
धूप सीझे बलकल की भांति
तुम्हारा गंडस्थल
सहला दूंगी
सूख कर फटे होठों को तुम्हारे
पानी दूंगी कलस से।

तुम आंख खोलोगे
करोगे बंद
पहचानोगे नहीं।
पक्षी कैसा पागल है देखो तो
आधी रात को
चहकते पुकारेगा
चलेगी हवा
पेड़-पत्ते हिलेंगे-डोलेंगे

Digitized by PPRACHIN, SOA

प्रलाप करेंगे
और तुम कांपते-से
पकड़ोगे हाथ
मैं समझ लूंगी कि
है कंपकंपी
सर्दी की,
तुम्हारे रोमहरित शरीर को
ढंक दूंगी
अपने ही वसन से
चीर कर
बहकोगे तुम कितने
किस का नाम, किस की बात
किसी वन, कोई लता वृक्ष
सुबह, दुपहरी या रात!
मैं कैसे विश्वास करती कि
तुम वीर हो, अवतार हो
राक्षस-राक्षसियों के
सभी भयानक उद्धत कार्य के
हो तुम संहारक
ऋषियों के, साधुओं के
आश्रमिक यज्ञ के पालक हो।

Digitized by PPRACHIN, SOA

दहकता ताप
और असहाय
सांस को तुम्हारी
रक्त के उबाल
और कांपती देह को
गोद में उठा कर मैं
अनुभव करुंगी तीव्रतर
ईश्वर-वीस्वर सब निरा झूठ
अज्ञान एक बालक हो तुम
ज्वर की यातना से
आलुलित है माथा।
में चाहूंगी
उतारी हुई धोती की भांति
यह मेरे शरीर को
ज्वर की यातना के बीच
अगर मैं देती फेंक
तुम्हारे बदले में
मेरा शरीर यदि
भोगता होता
लेटा रहता
तुम्हारी जगह।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

पृथ्वीरूपा

एक

अभिप्रेत प्रात: काल
खुलती जा रही थी अंधियारी की साड़ी
गंधोद्दाम पवन में भीग कर
कांपती धरती जब
खोल रही थी आंखें
उन्मीलित बरौनियों से
झर-झर झरती थी ओस
कली और फूलों से
लद कर झुक आते वृक्ष-लताओं का
सधीर चलना-फिरना
साफ दिखता था
हर एक फूल से
हर एक मधुकुंभ से
बूंद-बूंद झरता था शहद।

विविध पक्षियों की काकली थी
था क्या कोई संगीत-समारोह

Digitized by PPRACHIN, SOA

इस अरण्य में
एक-दूसरे से बंधे शाखा-पत्रों के
छेद में से
सुबह की लोहित आभा
सैकड़ों तारों की भांति
एक-दूसरे को
काटते थे।
अप्रकट जितनी प्रवृत्तियां
परस्पर विपरीत
हृदयों में होकर जागरित
मानो एक-दूसरे को
लगी थी छेदने।

पीले रंग का तीर एक
मेरे शरीर और मुख को
छूते ही मैं लगी बदलने
मैं और रह नहीं गयी
मैं बन कर
द्रवीभूत हो गया अस्तित्व ही मेरा
फुल्ल सरोवर

Digitized by PPRACHIN, SOA

शत-शत प्रात: पद्म
रक्त कमल, कमल कलियां
पुष्कर में छायाच्छन्न
मेरा वक्षस्थल
जलमय पुष्परज...स्खलित पंखुड़ियां
किशलय रंग रंगे लता और पत्रों से
अर्धावृत्त सरोवर।
कमल के पत्ते पर
जल की बूंद में
झलमलाता बिंब एक सूर्य का
सूर्यालोक के आईने को तोड़
करके चूर्णीभूत
घोलकर लहरों में
हुआ है संचरित इस तट से
उस तट को
मैं फिर से भूल गयी कि
गहराई में मेरी
कुंडली बांधे है सांप
माछ गेंडे, सीपियों की आमिष गंध से
आकुल है मेरी सत्ता

Digitized by PPRACHIN, SOA

तटस्थ बगुले की
लोभ जर्जरित छाया
आवर्जना और कीड़े
इकट्ठे हुए हैं
मेरे ही अंदर।

मैं केवल उतरी आयी थी
जाग रही थी
अविरत स्पंदित और दोलायित
कमलिनी-हरित-सरोवर
थी तुम्हारी प्रतीक्षा में
बनकर रूप, रस और
गंध का संभार।
तुम हो कौन?
सच होने वाला एक निरत स्वप्न मेरा
शायद आयेगा अब
अदूर पर्वत-श्रृंखला के
पाददेश से ही
और तुम्हारे निकलते ही
मैं तुम्हें पहचान लूंगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

दोनों पग धूल-धूसरित
आओगे तुम
और खड़े हो जाओगे जल की धारा में
झुक कर निहारोगे तुम मेरे गभीर वक्ष को
ये क्या है नीलम कमल
मुरझाए नयन होठों की
पंखुड़ियां।
मुझे केसे पता चलता भी कि
विच्छेद के दु:ख से तुम हो
यहां तक विमर्श कातर!

तृषा और विषण्णता में
तुम्हारे होठों को
कांपते देखते ही मैं जाऊंगी भूल
कि कुछ मांग लेती, कह लेती
अभाव की
अपरिपूर्णता के
अभियोग सारे
भूल जाऊंगी,
भूल जाऊंगी मेरी

Digitized by PPRACHIN, SOA

जन्म-बंधन से मुक्ति की
प्रार्थना को
तुम्हारे धूल-स्वेद
तुम्हारी विवर्णता को
धो डालने के सिवा
मेरी कोई अन्य गति नहीं
समझ गयी होऊंगी
इस भविष्य को
मैं कहूंगी आओ आओ
म्रियमाण प्रेम में
पागल पुरुष
दे तुम्हारी क्लांति मुझे
तुम्हारी विफलताएं सारी
हाहाकार दे दो मुझे
मेरे श्यामल सतेज स्नेह को
भर लो अंजुरी में
मैं हूं न यहां
शीतल सुगंधित जलझरी एक
पग तुम्हारे धो देने के लिए!

Digitized by PPRACHIN, SOA

रख दो तुम्हारा धनुष
उतारो कंधे से
तूणीर और तीर
खोल दो ये यत्नहीन रूखे केश
और देखो मेरी ओर।

सूर्य के ताप से दग्ध
नील कमल की पंखुड़ियों-से जर्जर
तुम्हारे कपोल को
छूते ही मैं तय कर लूंगी कि
मुझे ही
रहना है यहां बन कर अजर-अमर
कभी बनकर पक्षी, कभी सरोवर
फिर कभी मेघमाला
तुम्हारे लिए
तुम्हारे परितोष के लिए।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

दो

पवनाश्व चढ़ कर मैं
छूट चली दिशाओं में
श्याम, सिक्त, सुवासित वृक्ष-लताएं
निर्झर पुष्प मंजरी शोभित
वनभूमि
करुणाक्त ताजा तुम्हारा
हृदय क्या है
किया अनुभव
स्तब्ध के समान रुक गयी
क्षण के पश्चात्
प्रेमावेग परिपूर्ण
तुम्हारे हृदय को
अंजलीबद्ध हो
भूमि पर माथा टिका कर
किया प्रणिपात।

माथा उठाते समय

Digitized by PPRACHIN, SOA

दिवा की
जाग्रतावस्था के सपने की भांति
मेरे सामने थी
नीलिमा कुज्झटिका से रचित
प्रतिमा एक
पहाड़ छाया की तरह उसकी
मुद्रित आंखें
ठोस नीरवता
निहारते-निहारते
मैं जो भेद गयी
छूआ
उसके भीतर की निरी शून्यता को-

क्या वह तुम हो
अभंगुर स्वप्न के सारांश तुम मेरे
श्यामाग्नि की शिखा
चारों ओर फहर रही है तुम्हारी
विजय पताका।
उस ध्वज के नीचे
फिर भी है एक
असंपूर्णता का शून्य-स्थान

Digitized by PPRACHIN, SOA

व्याकुलता से झूलता
किसी को दिखाई देता है
किसी को नहीं
उस शून्य-स्थान से
आंखें मेरी
लौट नहीं पाती-

उस शून्यता के भीतर अद्भुत
एक रक्तक्षरा क्षत
गूढ़ एक मान
बेहद उदासी
लहर एक
दिखाई
स्पष्टतः।

मैं बढ़ा देती हूँ हाथ
शून्यता से ओत-प्रोत
तुम्हारे विषण्ण हाथ को
कांपते मेरे गरम हाथ को
पकड़ कर कहते हो तुम
कि मैं जानती हूं

Digitized by PPRACHIN, SOA

तुम कितने हो उदासीन
खंडित और निर्जन।

दो, तुम्हारे आदर्श की पताका को
तोड़ दूं
धनुर्धर बांहों को तुम्हारी
तीर तूणीर से
कर दूं मुक्त,
क्षत से सारी पीड़ा
पोंछ कर
तुम्हारी जीवनचर्या की
जितनी कमियां
जितनी जगह है सूनी
मेरे चुंबन से
हंसी से मेरी
अधीर आंसू से मेरा
पूर्ण कर दूं

सब के आंसुओं पर पैर धरे
चलने का जो कौशल
अभ्यास किया है तुमने

Digitized by PPRACHIN, SOA

मैं उसे भुला दूं
उससे भी सार्थकतर
कौशल जो
आसूं पोंछ देने की कला
सिखा दू तुम्हें
कुज्झटिकामय हाथों को।

राजा से, प्रजा से
कैवर्त, शवर तक
तुम्हारे पदचिह्न पर जो
रोते हुए
लौट गये,
सब से
आसानी से छू जाने का
तरीका तुमने सीखा है तो
आओ आकाश की भांति
तुम्हारे हृदय में
भर दूं आज
बंधे हुए चलने के आवेग
तब तुम समझ पाओगे
तुम्हारी अपूर्णता है
कैसी मारात्मक

Digitized by PPRACHIN, SOA

रुको,
रुको थोड़ा-सा
असुरों का विनाश करोगे तो
उठाओगे धनुष
पौरुष की मर्यादा को
अटूट रख
भूलोगे आवेग को
निष्ठुरतम वचनों का
करोगे उच्चारण,
ठहरो, उसके पहले
तुम्हारे कानों में
मधुरतम गोपन एक बात
कह दूँ
फूल एक-एक
एक-एक तारा
तुम्हारी निर्दयता में
जड़ा कर
तुम्हारी परिपूर्णता को
निहार लूं
बस एक बार।

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

तीन

महाशून्य के उत्स से
खुल आयी हूं मैं।
प्राचीन नित्य नूतन
मैं होती हूं ऋतुमति
प्रत्यह
पलीत और विलीन होती हूं।

झर-झर वर्षा में
निरंतर भीगनेवाला
वायुमंडल
मेरे आंसू भींगे गाल
उंगलियों की दरार में से
पत्थर की भांति कठिन समय
और कठोर नीरवता झर जाती है
मेरे हाथों में अनपके स्वप्न
भयानक शाप है
बैठा हुआ कंधे पर।

Digitized by PPRACHIN, SOA

मेरे हृदय भर में है
आत्मत्याग और त्याग का संशय
विप्लव का दलदल
पसीना और सूखे पेट की
काली धुएं की लकीर
रेंगते हुए इस रास्ते पर से गुजरे
पैरों तले रौंदे गये कीट की
मूकता और तिलमिलाहट
घरेलू जानवरों की अश्रुधार,
देख रहे हो किस भांति
दीर्घ सांस का हाथ पकड़ कर
मैं आयी हूं कि
छुरी बारूद की विकराल हंसी
मेरी मृत्तिका की मांज
कांप रही थरथर।

पग बढ़ाते समय मैं
चांद के डूबते समय
दूर नील लोहित अंधेरे के
भीतर ही
भीगे डूबे कांपता था

Digitized by PPRACHIN, SOA

शिशुओं का करुण स्वर।
किस सदी के
ध्वंस स्तूप के नीचे
सिर पटक कर हवा ही
बेहोश होती है।
अंधेरी झील के भीतर
दूध से गठित प्रतिमा एक
नारी एक
दोनों हाथ उठाए
शून्य को टटोलती रहती है
अपने जन्म-जन्मांतर की
अन्वेषा के एकल धैर्य को
तुम हो क्या उस धैर्य का प्रतीक
टांगर पहाड़ के शिखर पर
एक दीर्घ छाया
अलौकिक पौरुष की?

मेरी अधीरता
अनायास कक्ष पथ लांघ कर
इस धरती के
जल जाते वर्तमान
अंधा भाग्य और भविष्य

Digitized by PPRACHIN, SOA

सब को उठा कर
कीड़ा काटे ध्वस्त एक फल की भांति
हाथों में तुम्हारे थमा देने के पहले
यह क्या
तुम्हारे नासा से अधर से
बिखरते आग के स्फुलिंग
पसीजी आंखों की पंखुड़ियां
नतसिर
क्रोध से जर्जरित।
तुम्हारी चारों ओर घिरी
कितनी सागर की लहरें
कराल प्रलय
उत्थान-पतन
तरंगों के शीर्ष पर फेन
सफेद, नील फेन
आकाश के कितने रंग
तारे निहारिका
कितनी छाया, दीर्घ सांस
ओस और आंसू का सावन।

मुझे लगा इस घूर्णि के बीच
हिले मिले पाप-पुण्य

Digitized by PPRACHIN, SOA

युद्ध, रक्तपात, शोक
घटनाओं में आबद्ध
श्रृंखला और
इतिहास के क्रम
सब मिट जाते
डूब जाते
वैसे समय
और क्या किसी को
अभिशाप, भय, आंसू और भाग्य
याद रहते हैं?

घोर हाहाकारमय अंधकार
टटोलने लगता है एक शब्द को
टटोल-टटोल कर
ढूंढता है आजीवन
निमित्त मात्र मेरा वह
अन्वेषण
स्वर सामर्थ्य का
हृदय के उच्छल स्नेह से सिक्त
शब्द मात्र के अतिरेक
मेरे लिए
बाकी सारे शब्द हैं अर्थहीन।

Digitized by PPRACHIN, SOA

मैं समझ नहीं पाती
सही-भूल, हार-जीत का मानक
है कहां,
किन नियमों में
बंधे हुए होते हैं धर्माधर्म,
सत् और असत् की
क्या है कसौटी
असुरों पर विजय के पश्चात्
तुम क्यों हो इतने क्रोध से आकुल
योगेश्वर,
क्या तुम
बन जाते हो मुझ से भी असहाय
जब धंस जाता
संकल्प तुम्हारा
पृथ्वी का हर एक गड्ढा
प्रत्येक शिखर
आसुरिकता से है
काल-काल अध्यूषित
इसलिए
बार-बार होते लहू-लुहान
मनुष्य-ईश्वर।

Digitized by PPRACHIN, SOA

असंख्य दिगब्रह्मांड
समय के अनंत प्रवाह लांघ कर
मैं आया हूं
देखो मुझे एक बार
दु:ख के पर्वत के
नाभि कमल से खिला
अनुरागमय निर्झर हूं मैं
आओ आओ
खड़े रहो
मैं सजा दूं
लांछित गर्व को तुम्हारे,
तुम्हारे अंत:करण की
वीतस्पृहता को!
अधैर्य दिगदिगंत
पिघलता है देखो
बुझ आया जगत्
समय मेरी ही प्रतीक्षा में
रुका हुआ है देखो
अब मैं
परिचित साँचे में ही
विपुलता को लिखूँगी
समय को बताऊँगी

Digitized by PPRACHIN, SOA

लक्ष्यसिद्ध धनुर्धर समय
तू बैठ जा
कर प्रतीक्षा
मैं जाऊंगी
अवश्य जाऊंगी
धूल के ऊपर ही
राम नाम लिख देने के बाद।

कहेगा समय यदि
तुम में विलीन हो जाने के लिए
पर तुम रहो आशा की चमक बन
बने रहो अन्वेषा की
एक लकीर बन
मनुष्य के ललाट पर
लिखित रूप में,
और मैं रहूं यहां
तुम से अलग
आग के विशाल दांत
कोटि-कोटि जिह्वा
ज्वलमान भयानक मुख विवर
सहस्त्र बाँहें
बाँहों में दिव्य अलंकार

Digitized by PPRACHIN, SOA

ध्वंस प्रवृत्त यह काल
रहूं मैं इसके
वक्ष के सहारे टिके
फटी देह सिली चिंदियों की
देह को ढंक कर
आत्मा का कठोर शोक
टुकड़ों में स्नेह भोगती
मैं यहां बैठी रहूं
भोर के कोहरे में भीगी
ठूंठ शाख पर बैठी चिड़िया-सी
जीवित एक लहर
काँपती...

शायद प्रार्थना से मेरी
कोटि-कोटि जनप्राणियों के भाग्य को,
घटती
घटनेवाली घटनाओं को
दु:ख, हाहाकार से
कुछ भिन्न
कर पाऊं...

■

Digitized by PPRACHIN, SOA

सम्मान

ओड़िशा साहित्य अकादेमी, सारला पुरस्कार, 'शाश्वती' राष्ट्रीय पुरस्कार, (कर्नाटक) तथा ओड़िआ काव्य-संग्रह **'तन्मय धूलि'** के लीए वर्ष 2001 के केंद्र साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित ।

भुवनेश्वर में रहकर ओड़िआ पत्रिका 'इस्ताहार' और कविता पत्रिका 'उद्भास' का संपादन ।

संपर्क

1, ग्रीन पार्क
पटिआ स्टेशन रोड,
पटिआ, भुवनेश्वर-24, ओड़िशा

Digitized by PPRACHIN, SOA

प्रतिभा शतपथी

ओड़िआ की बहुचर्चित कवयित्री । अब तक ग्यारह कविता-संग्रह, पांच आलोचना पुस्तकें प्रकाशित । छह पुस्तकों का अंग्रेजी से ओड़िया में अनुवाद । ओड़िआ से हिन्दी में अनूदित पांच काव्य-संग्रह 'समय नहीं है', 'शवरी', 'आधा-आधा नक्षत्र', 'तन्मय धूलि' और 'तुम्हारे लिये, हरवार' प्रकाशित । अंग्रेजी में दो काव्य-संग्रह: 'ए टाइम ऑफ राइजिंग' एवं 'इफ् लेफ्ट अनसेड एंड अदर पोएम्स' प्रकाशित । विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं द्वारा देश-विदेश में आयोजित कवि सम्मेलनों व गोष्ठियों में ओड़िशा का प्रतिनिधित्व ।

Digitized by PPRACHIN, SOA